धनुष अपनी अलौकिक आभा की सुखद छटा दिखलाकर किसे चकित नहीं करता ? सायंकालीन सूर्य की अरुणिमा पश्चिमीय गगन से जब गगन-चुंबी पर्वत-मालाओं पर पड़ती है, एवं सरोवर के जल में जब उसका प्रतिबिंब सांध्य समीरण के प्रवाह से उठती हुई लहरों के कारण डोलते हुए जल में दिखलाई पड़ता है, तब कौन आनंदित नहीं हो उठता ? निर्मल आकाश में शारदीय पूर्णिमा का चंद्र नक्षत्रों के साथ कैसी शोभा सरसाता है ? जब रात्रि में चंद्र-चाँदनी शांत और स्तब्ध तरु-वृंद को आभामय बनाती है, तब उसे अवलोकन कर किसका हृदय प्रफुल्लित नहीं हो उठता ? प्रकृति के इस सौंदर्य का उपभोग तो पशु-पक्षी तक करते हैं। चकोर पूर्ण चंद्र की ओर इकटक देखता रह जाता है। मयूर मेघ को देखकर उन्मत्त हो नाचने लगता है। सर्प केतकी-गंध से आकृष्ट होता है। आम्र-मंजरी के विकसित रूप-माधुर्य को देखकर कृष्णा कोकिल पंचम स्वर में गान करने लगती है। कवि भी इस सौंदर्य को देखकर आनंदातिरेक से विह्वल होता है, और फिर सुंदर काव्य में प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करने लगता है।

हिंदी-कवियों ने प्राकृतिक सौंदर्य का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। प्राकृतिक सौंदर्य की सर्वश्रेष्ठ क्रीड़ा-भूमि भारतवर्ष में (१) वसंत, (२) ग्रीष्म, (३) वर्षा, (४) शरद्, (५) शिशिर और (६) हेमंत नामक छ ऋतुएँ होती हैं। इन ऋतुओं में प्रकृति के सौंदर्य में विलक्षण नूतनता उत्पन्न होती है। स्थिर निष्प्राण प्राकृतिक सौंदर्य में भी इन छ ऋतुओं में सजीवता का ऐसा मोहक विकार उत्पन्न होता है, जो तीव्र मादक सौंदर्य-युक्त होता है। हिंदी-कवियों ने ऋतु वर्णन में प्रकृति का ऐसा उत्कृष्ट वर्णन किया है कि उसकी प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। इस कविजनोचित कल्पना का पूर्ण प्राबल्य तो है ही, साथ ही प्रकृति का भी—प्राकृतिक सौंदर्य का भी—ऐसा सच्चा और हृदयग्राही

सजीव चित्र अंकित किया है, जिसपर रसिक काव्य-प्रेमी हृदय न्योछावर करते हैं। प्रत्येक ऋतु में प्रकृति के सौंदर्य के ऐसे उत्कृष्ट शब्द-चित्र खींचे हैं, जिन्हें पढ़ते ही—समझते ही—प्रकृति का—उस ऋतु-विशेष का—रमणीयतामय चित्र नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इसमें ऋतु-विशेष के फल, फूल, हिंदू-उत्सव और हिंदू-त्योहार, उन त्योहारों (उत्सवों) के समय के व्यवहार आदि, उस ऋतु-विशेष में प्रकृति की दशा, उसका मनुष्यों और इतर प्राणियों पर प्रभाव आदि अनेक ऐसे-ऐसे रोचक विषयों का वर्णन है, जो पढ़ने पर ही जाने जा सकते हैं।

यह ध्यान रहे कि जन-साधारण के कथन की अपेक्षा कवियों के वर्णनों में कुछ विलक्षणता होती है। वे केवल यही कहकर नहीं रह जाते कि "नदी बहती है। उसका जल निर्मल है। उसके दोनों तट ऊँचे हैं। उसमें भँवर भी पड़ते हैं।" यह वर्णन कवि का नहीं है। यह जन-साधारण की दृष्टि है। कवियों की दृष्टि कहीं और ही रहती है। हमारे हिंदी-कवियों ने जिन आँखों से प्रकृति की बाँकी झाँकी निहारी है, वे आँखें कुछ और ही हैं। जनसाधारण के लिये पर्वतों के भीतर से आती हुई शुभ्र और निर्मल जलवाली नदी एक नदी-मात्र है, परंतु कवि के लिये उस श्वेतवस्त्रा, लाजवती का शरीर शृंगार की रंगभूमि है। कवि-कुल-गुरु कालिदास के जगत्-प्रसिद्ध खंड काव्य मेघदूत में ऐसे अनेक वर्णन हैं। हिंदी-कवियों ने ऐसे अनेक प्राकृतिक चित्र अंकित किए हैं। लू का चलना जन-साधारण अथवा वैज्ञानिक के लिये ग्रीष्म ऋतु का एक गुण-विशेष है, पर महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

अरी, न यह पावक प्रबल, लुएँ चलति चहुँ पास ;
मानहुँ बिरह बसंत के ग्रीषम लेति उसास।

(बिहारी-सतसई)

इसके अतिरिक्त प्रकृति से हमें गहन-से-गहन शिक्षा सदा-सर्वदा सर्वत्र मिल सकती है। प्रत्येक वृक्ष का प्रत्येक पत्र महाकाव्य का पत्र हो सकता है, जिसपर अनमोल शिक्षा और अनंत सत्य का वज्र-लेख लिखा है। इसके लिये केवल देखनेवाला चाहिए। प्रकृति के साधारण पदार्थों के स्वभावमय चित्रण के साथ-साथ वे जिस अटल सत्य की अलौकिक शिक्षा की सदा-सर्वदा घोषणा कर रहे हैं, उसका भी हिंदी-कवियों ने ऐसा अनूठा दिग्दर्शन कराया है, जिसपर हृदय न्योछावर करना उपयुक्त जान पड़ता है। इसके उदाहरण में कवि-श्रेष्ठ तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की तीन पंक्तियाँ यहाँ देता हूँ। देखिए—

दामिन दमकि रही घन माहीं;
खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
छुद्र नदी भरि चलि इतराई;
जनु थोरे धन खल बौराई।
बुंद-अघात सहैं गिरि कैसे;
खल के बचन संत सहैं जैसे।
(रामचरित-मानस)

इस प्रकार के प्राकृतिक वर्णनों में नीति और कला का अद्भुत मेल है। इन पंक्तियों में मनोरम प्राकृतिक चित्र की सुंदरता अक्षुण्ण रखते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने जो अनुरूप उपमान उपस्थित किए हैं, वे विलक्षण काव्य-चमत्कार-पूर्ण और अटल सत्यमय हैं।

इन दो प्रकार के प्राकृतिक वर्णनों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के ऐसे वर्णन भी हिंदी-कवियों ने प्रचुरता से किए हैं, जिनमें प्राकृतिक सौंदर्य के साथ-साथ मनुष्य के अंतर्जगत् के सौंदर्य का भी वर्णन पाया जाता है। इनमें यह दिखलाया जाता है कि मनुष्य के हृदय

पर प्राकृतिक सौंदर्य का कैसा प्रभाव पड़ता है, आभ्यंतर प्रकृति से बाह्य प्रकृति का कैसा संबंध है, उनका पारस्परिक प्रभाव कैसा पड़ता है, एवं प्रेम आदि के स्थायी भाव एकांत और रमणीक स्थल में कैसे जोरों से उठते हैं ? सच पूछो, तो इस प्रकार के वर्णनों से ही कवि की रचना-कुशलता का पता चलता है। इस प्रकार के वर्णन हिंदी के प्रमुख प्रतिभाशाली कवियों ने शृंगार-रस के विभाव-पक्ष में प्रचुरता से लिखे हैं। इसमें कविजन बाह्य प्रकृति के साथ अंतरंग प्रकृति का अद्भुत मेल मिलाकर जो कलामय शब्द-चित्र अंकित करते हैं, उनमें सर्वथा विलक्षण आनंद होता है। ऐसे शब्द-चित्र काव्य-कला-उत्कर्ष के रमणीय उदाहरण होते हैं। सच तो यह है कि कविता में बाह्य सौंदर्य के साथ हमें अंतरंग सौंदर्य के भी दर्शन होते हैं, जो बाह्य जगत् के सौंदर्य से कहीं अधिक आनंददायी और मूल्यवान होता है। सुंदर स्थल में सुंदर व्यक्तियों के सत्य-प्रेम आदि अंतरंग सौंदर्य के मेल से जिस निराले सौंदर्य की सृष्टि होती है, वह सर्वथा अतुलनीय है। शृंगार-रसाचार्यों के मत से तो सृष्टि-सृजनकारी रति-भाव के कारण ही सुधांशु अपने रूप-लावण्य की पराकाष्ठा पर आकर समुद्र का हृदय डावाँ-डोल कर देता है। बाल-सूर्य की कोमल किरणें कमलों का द्वार खोल देती हैं। कोकिला की कूक में वसुधा का अभाव भरा शृंगार परिलक्षित होता है। सच तो यह है कि शृंगार और सौंदर्य का अविच्छिन्न संबंध है। प्रकृति की सुंदरता की उपासना शृंगार में ही होती है। सुंदर वन, सुंदर उपवन, सुंदर मंदिर, सुंदर वस्त्र, सुंदर आभूषण, सुंदर वेश-भूषा, सुंदर सामग्री, सुंदर संगीत और वह सब जो 'शिवं सुंदरं' है, उस सबका वर्णन शृंगार में ही पूर्णतया होता है। इसी से आद्य साहित्य-संगीताचार्य भगवान भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' में यह आदेश दिया है—"यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं वा दर्शनीयं वा तत्सर्वं शृंगारेणोपमीयते।"

हिंदी के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने षट्ऋतु-वर्णन पर पृथक् प्रबंध लिखे हैं, उनमें प्राकृतिक वर्णनों की मनोहरता और काव्य-कला-उत्कर्ष, दोनों ही दर्शनीय हैं। कविवर श्रीबिहारीलालजी ने भी अपने गागर में भरे सागर में—सतसई में—षट्ऋतुओं का सर्वांगपूर्ण और सुंदर वर्णन किया है। यह कितना श्रेष्ठ है, कितना मनोहर है, एवं इसमें प्राकृतिक वर्णनों का कैसा चरम उत्कर्ष है, इसे मर्मज्ञ देखें। हमारे अनेक ज्ञान लवदुर्विदग्ध सज्जनों को बिहारी-सतसई में प्राकृतिक वर्णनों का अभाव दिखाई देता है। इनका ध्यान हम Imperial Gazetter of India के निम्न-लिखित मत की ओर आकृष्ट करते हैं—

"He is particularly happy in his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an Indian Glooming, the way-worn pilgrim from the Sandal South, a dust, not from the weary road, but from his pollen quest, brow-headed with rose-dew for sweat, and lingering 'neath the trees, resting himself, and inviting others to repose." (Vol. II p. 423)

इसपर अधिक न कहकर मैं पाठकों के सम्मुख बिहारीलालजी का ऋतु-वर्णन उपस्थित करता हूँ—

वसंत-वर्णन

छकि रसाल-सौरभ सने मधुर माधवी गंध ;
ठौर-ठौर झौंरत झँपत, भौंर-झौंर मधु-अंध।
(बिहारी-सतसई)

रसाल (आम्र) की सौरभ से सने * माधवी-गंध की मधुरता से छककर भ्रमरों के झुंड जो मधु से अंधे हो रहे हैं—उन्मत्त हो रहे हैं—ठौर-ठौर 'झौंरते' हैं, और आनंद-विह्वल हो 'झँपते' हैं। इसमें

वासंती पुष्प-वृद्धि एवं पुष्पों के पराग के साथ-साथ स्थान-स्थान पर भ्रमरों की गुंजार बड़ी सुहावनी कथित की गई है। भ्रमरों की अवस्था का भी सुंदर वर्णन है। फिर भाषा कितनी नियंत्रित और अर्थ-गांभीर्ययुक्त है। वीप्सा और छेकानुप्रास का तो अपूर्व संघट्टन है।

इस दोहे की शब्द-समृद्धि कई हिंदी-कवियों ने अपनाई है। कवि किशोर लिखते हैं—

आमन के झौंर लागे, अँकुरन मौर लागे,
भौंर लागे झँपन, बसंत आयो अब री।

कोई दिवाकर कवि लिखते हैं—

ब्रज में बसंत, राग-बाग में बसंत,
बन-बेलिन बसंत सरसंत आमें बौर में;
भनत 'दिवाकर' समीर नीर तीर-तीर,
बनिता बसंत करि दीन्हीं और तौर में।
ठौर-ठौर कोकिला को बोल अनमोल भयो,
बगरो बसंत है मलिंदन के झौंर में;
और-और लौर-लौर घर-घर जहाँ-तहाँ,
कियो है बसंत सलसंत सब दौर में।

* माधव-गंध से वसंत-काल के विकसित कुसुमों की सुगंधि से तात्पर्य है। महाकवि कालिदास ने महाकाव्य रघुवंश में राम-लक्ष्मण को 'मधुमाधवाविव' लिखा है। मल्लिनाथजी ने मधु माधव की टीका में चैत्र-वैशाख लिखा है। प्राचीन कवि मधु-माधव मास को वसंत-ऋतु मानते हैं। कालिदास आदि के समान बिहारीलालजी भी मधु-माधव मास-द्वय को ही वसंत मानते हैं।

कवि देव ने लिखा है—

माधुरी भौंरनि आम के बौरनि
भौंरन के गन मंत्र-से बाँचैं।

पर इनमें से एक भी बिहारीलालजी के वर्णन को नहीं पहुँच सका। 'ठौर-ठौर भौंरत झँपत भौंर-भौंर मधु-अंध' में जो बात है, जो काव्य है, जो शब्द-समृद्धि है, उसे देव आदि नहीं ला सके, नहीं ला सके।

दिसि-दिसि कुसुमित देखिए उपवन-बिपिन-समाज ;
मनहुँ बियोगिन को कियो सर-पिंजर ऋतु-राज।
(बिहारी-सतसई)

दिशा-दिशा में हर जगह कुसुमित उपवनों और वनों को देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो ऋतु-राज वसंत ने अभागे वियोगियों के प्राण लेने को सर-पिंजर बनाया हो।

'सर-पिंजर' तीरों के उस पिंजड़े को कहते हैं, जिसमें व्याधा पक्षियों को फँसाकर उनके प्राण हरण करता है। इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने सिद्धास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा का किस विदग्धता से वर्णन किया है, यह देखिए। प्रत्येक दिशा में कुसुमित उपवनों और वनों को 'सर-पिंजर,' ऋतु-राज वसंत को व्याधा और वियोगियों को विहंग बनाकर बिहारीलालजी ने प्रशंसनीय उत्प्रेक्षा कही है।

फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि ;
फूल्यो देखि पलास-बन, समुहें समुझि दवागि।
(बिहारी-सतसई)

वन में फूले हुए पलाश को देखकर और उसे (लाल रंग का होने के कारण) दावाग्नि समझकर नवीन पथिक (क्योंकि नवीन

पथिक ही अनुभव-शून्य होने के कारण अपनी-अपनी प्राणप्रिया को छोड़कर यात्रा करने निकले थे। उन्हें इतना विदित नहीं था कि कहीं कोई वसंत-ऋतु में भी अपनी प्रणयिनी को छोड़कर यात्रा करने निकलता है।) चकित चित्त से घर की ओर फिरकर (मुड़कर) भाग चले।

इस वर्णन में पथिक को विकसित पलाश-पुष्प देखने से कामोद्दीपन हुआ है, और प्रियतमा का वियोग उसे असह्य हो उठा है। उसके हृदय में वियोगानल से दाह होने लगी है। वह अनुभव-शून्य नवीन पथिक उस दाह का कारण पलाश-पुष्पों को जानता है; अतएव विकसित पलाश को दावाग्नि समझता है।

कितना समीचीन वर्णन है, इसे सहृदय देखें। अलंकारवाले इसे भले ही 'भ्रांति' कहें, पर प्रेमी जन इसे बिलकुल स्वाभाविक कहेंगे।

इस भाव पर अनेक कवियों ने रचना की है। दो-चार की बानगी देख लीजिए।

बिहारीलालजी के भावों को अपनाकर नवीन छंद गढ़नेवाले देव कवि लिखते हैं—

बैरी बसंत के आवन में बन बीच दवानल-सी प्रजरैगी;
फूले पलास के डारन की डरि बेर डरावन डीठि परैगी।

कहना न होगा कि देव का यह वर्णन बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख बिलकुल निष्प्रभ है।

नरेश कवि कहते हैं—

हाय! न कोऊ तलास करै, ये पलासन कौने दवाँर लगाई?

पलाश के दवाँरवाली बात नरेश ने भी कही है, पर बिहारीलालजी का वर्णन तो निराला ही है।

इसी भाव पर भुवनेश कहते हैं—

बीस बिसै बन फूले पलासन देखि अँगारन सों दहि जायगी।

इस वर्णन में भी बात तो वही है, पर बिहारीलालजी की वह काव्य-कुशलता और वर्णन की वह उत्कृष्टता इसमें भी नहीं है। कवि मंसाराम ने इसी भाव पर एक उत्तम छंद कहा है—

प्यारे के बियोग आली, उठी आगि बृंदाबन,
जरती सदेह कुंजैं सुंदरी महाँ-महाँ;
बौरे कचनार, आच उठति पलासन तें,
कुसुम करील दीठि परति जहाँ-जहाँ।
'मंसाराम' तिन्हें भेंटि आवति समीर बीर,
तजो जात तन ताती लागति तहाँ-तहाँ;
मृग अधमारे, बिलुलात हैं भँवर कारे,
कोयल हू कोप लै पुकारती कहाँ-कहाँ।"

मंसाराम का यह वर्णन देव और नरेश के वर्णनों से अच्छा होने पर भी बिहारीलालजी के वर्णन को नहीं पहुँचता। बिहारीलालजी के वर्णन में बात ही कुछ और है। फूले पलाश पर सेनापति कवि की उक्ति भी दर्शनीय है। लिखते हैं—

'सेनापति' माधव-महीना में पलास तरु
देखि-देखि भाव कबिता के मन आए हैं;
आधे अनसुलगि सुलगि रहे आधे मानो,
बिरही दहन काम कैला परचाए हैं।

कविवर सेनापतिजी की उक्ति बहुत ही अच्छी है। खिले और अनखिले पलाश-पुष्पों को आधे सुलगे और आधे अनसुलगे कोयला बनाकर विरही को काम जलाना चाहता है। कहना विदग्धता से खाली नहीं है। उत्प्रेक्षा अच्छी है, भाव सुंदर है। देव आदि कवियों से सेनापति की रचना उत्कृष्ट होते हुए भी बिहारीलालजी

के दोहे की भावोत्कृष्टता को नहीं पहुँचता। बिहारीलालजी के—

फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि ;
फूल्यो देखि पलास बन, समुहें समुझि दवागि।

में जो बात है, जो काव्य है, वह अनुपम है।

रुनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु-नीर ;
मंद-मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर।

महाकवि बिहारीलालजी का यह दोहा काव्य-जगत् में खूब प्रसिद्धि पा चुका है। इसके समान सुंदर और पवित्र समअभेद रूपक हिंदी-संसार में कठिनता से मिलेगा। माधुर्य और प्रसाद गुण के विषय में जो कुछ कहा जाय, सो थोड़ा है। इसका अर्थ मैं काव्य-कला-कुशलतावाले अध्याय में दे चुका हूँ। वासंती वायु का ऐसा हृदयहारी वर्णन ढूँढ़े भी न मिलेगा।

इसी दोहे के भाव को अपनाते हुए सैयद गुलामनबी 'रसलीन' कहते हैं—

सरवर माहिं अन्हाइ अरु बाग-बाग बिरमाइ ;
मंद-मंद आवत पवन राहंजस के भाइ।

'रसलीन' ने बिहारीलालजी के समीर-कुंजर को देखकर पवन को राजहंस बनाना चाहा, पर इनके वर्णन में न तो बिहारीलाल-जी के दोहे के सदृश मनोहर भाषा है, न वह काव्य है, न वह भाषा का समुचित नियंत्रण। और, इतने पर भी 'रसलीन' से सीधा-सादा रूपक भी तो न बँध सका। 'राजहंस के भाइ' कहकर रूपक की छटा नष्टप्राय कर दी।

इसी प्रकार का भाव कवि ने अपने निम्न-लिखित कवित्त में व्यक्त किया है—

लसत तमाल तरु असित बिसाल अंग,
चंचरीक घंटावलि सबद सुनायो है ;
पुष्प मकरंदन के झरत अनंत पद,
सीतल पवन मन्द गवन सुहायो है ।
नाना खग भीर कीर कोकिल महूत लोग,
लतिका-जँजीर-जाल पाँयन बँधायो है ;
मदन महीपति को दीरघ दिमागदार
आज ऋतु-राज गजराज बनि आयो है ।

यद्यपि इसके और दोहे के भाव में अंतर है, परंतु दोहे की भाव-चोरी इस छंद में स्पष्ट झलक रही है। यह होते हुए भी छंद अच्छा बन पड़ा है। ऋतु-राज को गजराज बनाकर कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। पर इतना तो विवश होकर कहना ही पड़ता है कि यह भी बिहारीलालजी के दोहे को नहीं पाता। वह वर्णन, वह भाषा, वह माधुर्य कुछ और ही है।

चुँवत स्वेद मकरन्द-कन, तरु-तरु तर बिरमाय ;
आवत दच्छिन-देस तें थक्यो बटोही बाय ।

इसकी विवेचना मैं काव्य-कला-कुशलतावाले अध्याय में दिखला आया हूँ। यहाँ इतना ही कह देना अलम् होगा कि यह दोहा हिंदी के माथे की बिंदी है।

लगभग इसी प्रकार के भाव पर हरिकेश कवि ने अपना यह निम्न-लिखित छंद बनाया है। लिखा है—

मलय गुलाबी हाथ सुमन-पियाले आले,
चटक गुलाब चोख चाखत बिचारो सो ;

कहै 'हरिकेस' मोद चारो ओर छायो जोर,
मधुर अलापै राग ताल कूक भारो सो।
मुनि-मन बसन लथोरे नेह बोरे बलि,
हेर झकझोरे करै कारैं पिय प्यारो सो;
सुरभी-कलार कुंज-सदन सु छाक्यो बाँक्यो,
मन्द-मन्द आवत मरुत मतवारो-सो।

हरिकेशजी का यह छंद सचमुच बड़ा अच्छा है। इसमें रूपक भी बड़ा सुहावना है। वर्णन में भी एक निराला बाँकपन आ गया है।

"कुंज के सदन में सुरभि के कलार से लेकर मलय के गुलाबी हाथों से सुमन के आले प्याले में मरुत का मकरंद-मद्य पीकर मतवाला बनना, फिर मधुर अलाप एवं ताल-स्वर-युक्त राग का मुजरा सुनना, पीछे मतवालों के समान मंद-मंद डोलते हुए आना बड़ा ही मनोरम वर्णन है। हरिकेशजी की यह प्रशंसनीय रचना यथार्थ में सुकवि की प्रवीण रचना है।

लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद-मकरन्द;
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद बायु गति मंद।

पुष्पों के पराग रूप सुवस्त्रों से आवृत नवोढ़ा के समान वायु मंद गति से आ रही है। जान पड़ता है, नवोढ़ा के समान अल्हड़पन से चलने के कारण स्वेद-विंदु-रूप में मकरंद झर रहा है। मकरंदविंदु का झरना स्वेद के विंदु हैं। वायु के समान सुकुमार नवोढ़ा के चलने में उसका अंग मकरंद-रूप स्वेद से भींगा हुआ है। तभी तो उसमें भींगी सुगंध और शीतलता है। इस दोहे में नवोढ़ा की उपमा देते हुए शीतल, मंद, सुगंधित वायु का वर्णन कवि ने कितनी चतुरता से किया है, इसे मर्मज्ञ देखें। छेक और

वृत्ति अनुप्रास भाषा की शोभा बढ़ा रहे हैं। भाषा का समुचित नियंत्रण भी मनोहर है। यहाँ यह देखिए कि रसिक बिहारीलालजी ने वायु को भी कैसी सुकुमार नवोढ़ा के समान कहा है, जो मंद-मंद चलने में भी मकरंद-स्वेद से सन जाती है। संपूर्ण दोहे में अभेद रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालंकार की छटा है। कैसे मजे में थोड़े में कह गए हैं—

"पुष्प-पराग-पट परिधान किए, स्वेद-मकरंद में सनी वायु नवोढ़ा नारी के समान सुखद, मंद गति से आ रही है।"

इसी दोहे के भाव को लेकर सैयद गुलामनबी 'रसलीन' कहते हैं—

सुमन-सुगन्धन सों सनी, मन्द-मन्द चलि आय ;
प्रौढ़ा-लौं मन को हरति हिय लगि बरसा-बाय।

दोहा वैसे तो ठीक है, पर बिहारीलालजी के दोहे की तुलना में रक्खा ही नहीं जा सकता। वह बात ही कुछ और है।

बृहद्व्यंग्यार्थ-कौमुदी के रचयिता कविवर गोकुल ने वासंती वायु को नटी के रूप में वर्णन करते हुए निम्न-लिखित सुन्दर छन्द कहा है—

बागन में चारु चटकाहट गुलाबन की,
ताल देत तालिया तुलै न तुक तन्त की ;
गुंजत मलिंद-बृंद तान-सी उपज पुंज,
कलरव गान कोकिलान किलकंत की।
'गोकुल' अनेक फूल फूले हैं रँगे दुकूल,
झूमै आम-बौर हाव-भाव रसवन्त की ;
लहरै तरुन तरु, छहरै सुगन्ध मन्द,
नाचत नटी-सी आवै बैहर बसन्त की।

कविवर गोकुल का यह छन्द बहुत ही बढ़िया है। बागों में जो गुलाब की कलियों की चटकाहट है, वही 'तालिया' तान दे रहा है। मलिंद-वृन्द की गुंजार तान की उघट है, कोकिलाओं की कूक, कलरव गान है। अनेक रंग के फूले हुए फूल रंगीन वस्त्र हैं, आम्र के बौर का झूमना ही रसीले हाव-भाव हैं। नवयुवक-रूपी तरुण तरुओं को हर्ष से लहराती हुई, प्रफुल्लित करती हुई, मन्द सुगन्ध छहराती हुई यह वसन्त की वायु नटी के समान नाचती-सी आ रही है।

कितना उत्कृष्ट रूपक है। इस छन्द की भाषा भी प्रौढ़ और अनुप्रास-युक्त है। यद्यपि इसमें बिहारीलालजी के दोहे के समान प्रसादगुण नहीं है, और न वैसा हृदयहारी भाव है और न वैसी नाजुकखयाली है, फिर भी इसमें रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालंकार और अनुप्रास की छटा बिहारीलालजी के दोहे के समान ही है। साथ-साथ माधुर्य और प्रसाद-गुण भी अच्छा है। पाठक देखें. देव कवि का समीर के वर्णनवाला निम्न-लिखित छन्द इस छन्द के सम्मुख कितना निष्प्रभ है—

अरुन उदोत सकरुन ह्वै अरुन-नैन
तरुनी तरुन तन तूमत फिरत हैं;
द्रुमन-द्रुमन दल दूमत मधुप 'देव',
सुमन-सुमन मुख चूमत फिरत हैं।
(देव और बिहारी, पृष्ठ ११५)

इसमें दक्षिण नायक का वर्णन समीर के साथ-साथ करना यद्यपि अच्छा है, परंतु फिर भी शब्दों के प्रयोग शोभनीय नहीं। चूमत में अनुप्रास जोड़ने के लिये तुमत और दूमत लिखना प्रसाद-गुण की हत्या तो है ही, साथ-साथ भाषा की भ्रष्टता भी है। इसे बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे से मिलाकर पढ़िए, और कहिए कि क्या देव बिहारीलालजी की समता के हो सकते हैं।

रह्यो रुक्यो क्यों हू सुचलि आधिक राति पधार ;
रहत ताप सब द्यौस को उर लगि यार बयार।

दिवाकर कवि बिहारीलालजी के दोहे के भाव और शब्द-समृद्धि का अपहरण करते हुए लिखते हैं—

सुमन रसाल-मकरन्द लपटी है, नीकी.
दच्छिन से आइ सुभ लागति सरीर में ;
मन्द-मन्द चाल से मराल को लजाति जाति,
बपु ह्वै पवित्रता नहाए गंग-नीर में।
सुखद सुहावन लुभावन मुनीस-मन,
नवोढ़ा-सी नारि गति चलै अति धीर में ;
भनत 'दिवाकर' सुधा सों निसि सनी प्रात,
जानी क्या बहार है बसंत की समीर में।

दिवाकर ने बिहारीलालजी के दोहे से भाव और शब्द-समृद्धि पर प्रगाढ़ आसक्ति प्रदर्शित की है।

बिहारी	दिवाकर
(१) 'गति मंद'	(१) 'मन्द-मन्द चाल से
(२) लपटी पुहुप-पराग-पट	(२) मकरंदन-लपटिकर
(३) नारि नवोढ़-लौं	(३) नवोढ़ा-सी नारि
(४) सुखद	(४) सुखद

इसी को प्रबंधहरण भी कह सकते हैं।

फाग-वर्णन

इस प्रकार बासंती वायु का वर्णन कर सूक्ष्मदर्शी बिहारीलालजी ने वसन्तांतर्गत होली (फाग) का उत्कृष्ट वर्णन किया है। देखिए, नायिका किस प्रकार होली खेल रही है—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि ;
भरि गुलाल की मूठि तिय गई मूठि-सी मारि ।
(बिहारी-सतसई)

काव्य-मर्मज्ञ भावुक देखें कि बिहारीलालजी ने फाग खेलती हुई सुन्दरी नायिका का कैसा चित्र खींच दिया है। विषय के अनुकूल शब्द रखकर सोने में सुगन्ध ला दी है। भाषा का समुचित नियन्त्रण और भाषा-भव्यता तथा माधुर्य और प्रसाद-गुण कितने सुहावने हैं। अनुप्रास भी मनोहर हैं। कहते हैं—

"कोई लज्जाशीला सुन्दरी नायिका 'पीठि दिए ही' थोड़ा मुड़कर (घूमकर) हाथ से घूँघट को कुछ सरकाकर दूसरे हाथ से गुलाल की मुट्ठी भरकर 'मूठि-सी' मार गई।"

लीला-हाव का ऐसा वर्णन कदाचित् ही कहीं मिलेगा।

बिहारीलालजी के इस दोहे पर भी कई कवियों ने हाथ साफ किया है। इसका भाव चुराकर अपने-अपने छन्द बनाए हैं; पर बिहारीलालजी के वर्णन को नहीं पा सके। कुछ उदाहरण देखिए।

हिंदी-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि पद्माकर लिखते हैं—

ये नन्दगाँव तें आए यहाँ,
उत आई सुता वह कौन हू ग्वाल की ;
त्यों 'पदुमाकर' होत जुरा-जुरी
दोउन फाग रची इहि ख्याल की।
दीठि चली उनकी इनपै,
इनकी उनप चली मूठि उताल की ;
दीठि-सी दीठि लगी इनके,
उनके लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की।

पाठक देखें, कविवर पद्माकरजी ने बिहारीलालजी के दोहे को किस प्रकार अपनाया है। भाव तो ठीक ही पदहरण तक किया है,

फिर भी बिहारीलालजी के उस वर्णन को कहाँ पा सकते हैं। बिहारीलालजी के—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि।

में जो बात है, उस तक पद्माकरजी पहुँच ही न सके। गुलाल की मूठि-मूठि-सी मार गई, या गुलाल की मूठि मूठि-सी लगी में एक ही बात है।

सुप्रसिद्ध कवि गिरिधरदास या गिरिधारनजी बिहारीलालजी के दोहे का भावापहरण करते हुए लिखते हैं—

डारत ही 'गिरिधारन' दीठि अबीरन के कन साथ लुठी है;
मोहन के मन मोहन को भटू मोहनी मूठि-सी तेरी मुठी है।

गिरिधारनजी मोहनी विशेषण भले ही जोड़ दें, पर 'मूठि-सी मुठी' इस बात की सदैव साक्षी देता रहेगा कि उनके छन्द की भाव-समृद्धि और यह सुन्दर सूझ बिहारीलालजी के दोहे से ली गई है। गिरिधारनजी का वर्णन तो पद्माकरजी के वर्णन से ही बहुत नीचा है।

छुटत मुठिन सँग ही छुटी लोक-लाज, कुल-चाल;
लगे दुहुनि इक सँग ही चलचित नैन गुलाल।
दियो जु पिय लखि चखनि में खेलत फाग खियाल;
बाढ़त है अति पीर सुन काढ़े हू सु गुलाल।

(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारीलालजी के दोनो दोहे सरल और सुस्पष्ट हैं। पाठक स्वयं देखें, इन दोहों में प्रेम का कैसा अच्छा वर्णन है। गुलाल के निकल जाने पर भी प्रेम कम नहीं होता। 'नैन' में गुलाल के साथ-साथ गुपाल भी तो लगे थे। गुलाल निकल गई, तो क्या हुआ, गुपाल तो नहीं निकले।

बिहारीलालजी के इन दोनो दोहों का कतरन लेकर पद्माकरजी ने अपने इस प्रसिद्ध छंद की रचना की है। देखिए—

एकै सँग धाए नँदलाल औ' गुलाल दोऊ,
दृगन गए हैं भरि आनँद मढ़ै नहीं ;
धोय - धोय हारी 'पद्माकर' तिहारी सौंहैं,
अब तो उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं ।
कहाँ जाऊँ, कासों कहौं, कौन सुने मेरी पीर,
कोऊ तो निकामौ जासों दरद बढ़ै नहीं ;
एरी मेरी बीर, जैसे-तैसे इन आँखिन तैं,
कढ़िगो अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं ।

पद्माकरजी का यह छंद भाषा-काव्य-जगत् में बहुत प्रसिद्ध है। लोग इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं अघाते। पर इसमें पद्माकर की करतूत नीचे देखिए—

लगे दुहुनि इन संग ही चलचित नैन गुलाल ।
(बिहारी)

एकै सँग धाए नँदलाल औ' गुलाल दोऊ
दृगन गए हैं भरि आनँद मढ़ै नहीं ।"
(पद्माकर)

बाढ़त है अति पीर सुन काढ़े हू सु गुलाल
(बिहारी)

एरी मेरी बीर, जैसे-तैसे इन आँखिन तैं
कढ़िगो अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं ।
(पद्माकर)

पर इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारीलालजी के दोहे की—

छुटत मुठिन सँग ही छुटी लोक-लाज, कुल-चाल ।

वाली बात पद्माकर नहीं ला सके ।

गिरै कंपि कछु, कछु रहै कर पसीज लपटाइ ;
डारत मुठी गुलाल की छुटति झूँठो ह्वै जाइ ।

बिहारी-सतसई)

कोई प्रेमिका नायिका अपने प्रियतम के साथ फाग खेलने आई है। वह मुट्ठी में गुलाल भरकर नायक पर फेंकना चाहती है, पर उसे नायक-दर्शन से सात्त्विक होना है। अतएव हाथ काँपने से कुछ गुलाल गिर जाता है। जो थोड़ा-सा शेष रह जाता है, वह सात्त्विक होने के कारण स्वेद की उत्पत्ति से हाथ के पसीजने पर हाथ से लपटकर रह जाता है। इस प्रकार नायिका यद्यपि साहस करके गुलाल की मूठि प्रियतम पर फेंकती है, पर उसका गुलाल फेंकना झूठा हो जाता है। गुलाल प्रियतम तक पहुँचता ही नहीं।

हिंदी-भाषा के आचार्य कविवर रघुनाथ ने भी फाग में सात्त्विक होने का वर्णन किया है। देखिए—

फागु मची बरसाने के बाग में,
पूर रहो थल तान - तरंग सों ;
गोप - बधू इत ठाड़ी गुपाल,
उतै 'रघुनाथ' बढ़े सब संग सों।
घूँघट टारि, सखीन की ओट ह्वै
प्यारी चलाई जो प्रेम उमंग सों ;
लागी तो मूठि अबीर की आय,
पै प्यारो अन्हाइ गयो उहि रंग सों।

रघुनाथ ने नायक को सात्त्विक होने का वर्णन किया है। नायिका ने मुट्ठी में भरकर नायक पर गुलाल फेंका। नायक गुलाल से सराबोर हो गया। रघुनाथ का छंद भी बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख नहीं ठहरता। बिहारीलालजी के—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि ;
भरि गुलाल की मूठि तिय गई मूठि-सी मारि।

में जो बात है, जो वर्णन है, वह क्या रघुनाथ के—

घूँघट टारि, सखीन की ओट ह्वै
प्यारी चलाई जो प्रेम उमंग सों ;

में स्वप्न में भी है।

संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ कविवर पं० अंबिकादत्त व्यास ने भी फाग में सात्त्विक होने का वर्णन किया है। वह भी देखिए—

आजु की बात कहा कहौं मैं,
मुख सों कछु हू कहो जात न प्यारी
साध सबै मन की मन ही रही
ऐसी कछू बिधि बात बिगारी,
'अंबिकादत्त' जू जादू कर्‌यो
जनु मैं अपनी सुधि हाय बिसारी,
देखत ही मनमोहन को मुख
हाथ सों छूटि परी पिचकारी।

अंबिकादत्तजी कहते हैं कि नायिका ने जैसे ही मनमोहन का मुख देखा, वैसे ही उसे सात्त्विक कंप हुआ, और उसके हाथ से पिचकारी छूट पड़ी। इसका उसे दुःख हुआ, इसीलिये वह अपनी सखी से कहती है कि मनमोहन के साथ फाग खेलने की मेरी साध मन में ही रह गई। इसमें सात्त्विक होने का वर्णन कुछ बुरा नहीं है, पर बिहारीलालजी के समान कवित्व की कमनीयता इनके छंद में कहाँ ? आ ही कैसे सकती है ?

फगुआ वर्णन

फाग के समय ब्रज की स्त्रियाँ किसी सम्माननीय पुरुष को पकड़ लेती हैं। उन्हें कुछ ले-देकर अपना पिंड छुड़ाना पड़ता है।

इस अवसर पर जो कुछ दिया जाता है, उसे ब्रज के लोग 'फगुआ' कहते हैं। बुंदेलखंड के कई स्थानों में भी इसका रिवाज है। फगुआ का वर्णन हिंदी के दो-चार कवियों ने ही किया है। बिहरीलालजी ने वसंत-ऋतु, वासती वायु, फाग और फगुआ, सबका बड़ा ही मनोहर और क्रमवार वर्णन किया है। लिखते हैं—

ज्यों-ज्यों पट झटकति, हठति, हँसति, नचावति नैन,
त्यों-त्यों निपट उदार हूँ फगुआ देत बनै न।

(बिहारी-सतसई)

ज्यों-ज्यों कोई सुंदरी मोहनी नायिका नायक के वस्त्र के छोर को पकड़कर झटकती है, फगुआ लेने के लिये हठ करती है, उसके हास्य-पूर्ण वचनों पर हँसती और नेत्रों को नचाती है, त्यों-त्यों उस नायक को उसके हाव-भाव और भ्रू-विलास देखकर बड़ा आनंद प्राप्त होता है। अतएव वह बहुत उदार होने पर भी फगुआ नहीं देता। दे भी कैसे ? फगुआ दे देने पर नायिका की क्रीड़ाओं का अंत हो जायगा, और वह रसिक उसकी विलास-मयी चेष्टाओं पर ही रीझ रहा है।

धन्य हैं रसिक बिहारीलालजी ! नायिका के हाव-भावादि पर निपट उदार नायक को रिझाकर फगुआ देने में विलब कराते हुए तुमने जो शृ गार-रस का स्रोत बहाया है, उसे रसिक प्रेमी ही जान सकते हैं।

हिंदी के कवियों के दो उत्तम छंद फगुआ-वर्णन के और हैं, जिन्हें पाठकों के अवलोकनार्थ उद्धृत करने का लोभ मैं सवरण नहीं कर सकता। वे दोनों ये हैं—

मधुर मधुर मुख मुरली बजाय धुनि
धाम-धाम धमकि धमारन की कै गयो
कहै 'पदमाकर' त्यों अगर-अबीरन की
करिकैं घलाघली, छलाछली चितै गयो

को है वह ग्वालिनि गुवालन के संग में
सुअंग छबिवारो रस रंग में भिजै गयो,
ब्वै गयो सनेह-बीज, छ्वै गयो छरा को छोर,
फगुआ न दै गयो, हमारो मन लै गयो
(पद्माकर)

पद्माकरजी ने मधुर आनुप्रासिक भाषा में फगुआ का साधारणतया अच्छा वर्णन किया है। प्रसाद-गुण भी पद्माकरजी के छंद में यथेष्ट है। लिखते हैं—

ब्वै गयो सनेह-बीज, छ्वै गयो छरा को छोर
फगुआ न दै गयो, हमारो मन लै गयो।

यह वर्णन भी विदग्धता से खाली नहीं है। वश में आए हुए नायक का 'सनेह-बीज' बोकर और 'छरा को छोर' छूकर बिना फगुआ दिए भाग जाना लिखना ठीक है, पर पद्माकरजी के छंद का नायक कदाचित लोभी है, जान पड़ता है, वह फगुआ देने के डर से प्राण बचाकर भाग गया। पर बिहारीलालजी के दोहे का नायक निपट उदार है। वह भी फगुआ नहीं देता, पर उसे लोभ नहीं है। वह केवल नायिका का सुखद चेष्टाओं को देखने का इच्छुक है। तात्पर्य यह कि पद्माकर ने बिहारीलालजी के भाव का 'लह्यो न आधौ आध'।

कवि व्रजचंद्रजी ने भी फगुआ का अच्छा वर्णन किया है। देखिए, कोई सखी अपने साथ श्रीकृष्ण से फाग खेलनेवाली नायिका से कहती है—

खेलति फाग जो मेरी भटू,
इनसों बड़े चाव सों बावरी तू है
केसरि के रँग की भरि सुंदरि,
डारति कामरी पै पिचकै है,

त्यों ब्रजचंद जू साँवरे गातनि,
नावै सुगंधन की लपटैं है।
जो मँगुआ दधि-माखन के,
सो कहो कहँ तैं फगुआ तुहि देहैं।

"हे सखी, जो तू इन श्रीकृष्ण से बड़े चाव से फाग खेलती है, सो तेरा यह पागलपन है। हे सुंदरी, तू काली कमली पर केशर के रंग की पिचकारियाँ व्यर्थ ही डालती है। साँवरे शरीर पर सुगंधि की लपटों से भरे हुए द्रव्य को डालना भी मुझे उचित नहीं जान पड़ता। यदि तू यह सब इनसे फगुआ लेने की आशा से करती है, तो तेरा यह काम बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि ये कृष्ण जो दधि और माखन के माँगनेवाले हैं, तुझे फगुआ कहाँ से देंगे ?"

इसमें कवि का भाव बड़ा ही मनोरम है। उक्ति भी भक्ति-भाव एवं प्रेम-रस से भरी हुई व्यंग-पूर्ण एवं मनोहर है। कथन-शैली में भी बाँकपन है, पर बिहारीलालजी के दोहेवाली बात इसमें भी नहीं है।

अब नायक और नायिका का जमकर होली खेलना भी देख लीजिए।

रस भिंजए दोऊ दुहुन तउ टिक रहे, टरैं न ;
छबि सों छिरकत प्रेम-रँग भरि पिचकारी-नैन।

(बिहारी-सतसई)

"यद्यपि रस (आनंद) से नायक-नायिका दोनों ने दोनों को तर कर भिगो दिया, तो भी वे 'टिक रहे' उनमें से कोई भी हटता नहीं। 'छबि सों' 'नैन पिचकारी' में 'प्रेम-रंग' भर कर 'छिरकत' हैं।

इस दोहे में पाठक देखें कि नायिक और नायिका नेत्र-रूपी पिचकारियों में प्रेम-रूपी रंग भर-भरकर किस प्रकार एक दूसरे पर डाल रहे हैं, और फिर भी रस से सराबोर होने पर भी, दोनों में

से एक भी टलता नहीं। आनंद में मग्न तथा रस में सराबोर होना कितना सुहावना है। नेत्रों में पिचकारी और प्रेम में रंग का रूपक बाँधना बड़ा ही विदग्धता-पूर्ण है। प्रेम-रंग भाषा-साहित्य में बहुत प्रचलित है। प्रचलित शब्दों में ऐसा उत्कृष्ट रूपक बाँधना बिहारीलालजी-सदृश महाकवियों का ही काम है।

जान पड़ता है, महाकवि बिहारीलालजी के इसी दोहे का भावापहरण करके पद्माकरजी ने अपना निम्न-लिखित छंद बनाया है। देखिए—

या अनुराग की फाग लखो,
जहाँ रागत राग किसोर-किसोरी।
त्यों 'पदमाकर' घाली घली फिर,
लालहिं लाल गुलाल की झोरी।
जैसी-की-तैसी रही पिचकी कर,
काहू न केशर रंग में बोरी;
गोरिया के रँग भींजिगो साँवरो;
साँवरे के रँग भींजिगी गोरी।

बिहारीलालजी के दोहे की अपेक्षा पद्माकरजी की भाषा मनोरम और शब्दालंकार-युक्त है। परंतु भाव, जो काव्य का प्राण है, पद्माकरजी के छंद में वैसा उत्कृष्ट नहीं आया, जैसा बिहारीलाल-जी के दोहे में है। बिहारीलालजी की अनुराग की फाग सचमुच अनुराग की फाग है। पद्माकरजी ने अनुराग की फाग में केशर और गुलाल लिखकर अपनी हीनता दिखला दी। बेचारे करें, तो क्या करें।

सिद्ध सारस्वतीक, अपूर्व-प्रतिभा-संपन्न महाकवि बिहारीलाल-जी की समता करना हँसी-खेल नहीं है।

ग्रीष्म-वर्णन

अब ग्रीष्म का वर्णन देखिए। ग्रीष्म का वर्णन भी बिहारीलाल-

जी ने बड़ा ही मनोरम और सच्चा किया है। इस दोहे के भाव को भी हिंदी के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कविवरों ने अपनाया है। विस्तार-भय से केवल दो-एक उदाहरण ही दूँगा।

नाहिं न ये पावक प्रबल लुएँ चलति चहुँ पास;
मानो बिरह बसंत के ग्रीषम लेति उसास।
(बिहारी-सतसई)

"हे सखी! यह प्रबल पावक नहीं है, जिसकी आँच असह्य हो रही है। यह तो चारों ओर से लू चल रही है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, मानो ऋतुराज वसंत (रूपी नायक) के विरह में ग्रीष्मऋतु (रूपिणी प्रोषितपतिका नायिका) जो उसास लेती है—गर्म आहें भरती है—उसी की 'तपन' के कारण यह वायु-मंडल गर्म होकर इतना दाहक हो रहा है।"

इस दोहे में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार में बिहारीलालजी ने ग्रीष्म-ऋतु को विरहिणी नायिका और ऋतुराज वसंत को नायक बनाकर अपनी विलक्षण प्रतिभा और प्रगाढ़ पांडित्य का परिचय दिया है। ग्रीष्म की भीषण ज्वाला का भी प्रबल पावकमें भ्रांत्यापह्नति का आश्रय लेकर आरोप किया जाना कुछ कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है। प्रबल पावक के समान ग्रीष्म की लू का वर्णन करके बिहारीलालजी ने ग्रीष्म की मध्याह्नवायु की रोमांचकारी भीषणता दिखलाई है। इस दोहे के भाव पर अनेक कवियों ने छंद बनाए हैं, पर विस्तार-भय से उन्हें यहाँ नहीं देता।

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ;
जगत तपोबन-सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ।
(बिहारी-सतसई)

कहते हैं, महाकवि बिहारीलालजी ने किसी चित्रकार के चित्र को देखकर यह दोहा कहा था। साहित्य-संसार में यह खूब ही

प्रसिद्ध है। इसके भाव को अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने अपनाया है। इसके उदाहरण अनेक मिलेंगे।

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन मन माँहँ;
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँहँ।
(बिहारी-सतसई)

कितनी उत्कृष्ट रचना है। जेठ की दुपहरी का कैसा सच्चा और रोमांचकारी वर्णन है। जेठ की 'दुपहरी' (मध्याह्न) को देखकर छाँह् भी छाँह् चाहती है। ठिकाना है इस भीषण ताप का ! भाषा की सुंदर सजावट पर भी एक दृष्टि कीजिए—बैठि, पैठि, सघन, सदन, बन, मन, माँहँ, देखि, दुपहरी, छाँहौं, छाँहँ में जो भाषा-माधुर्य और शब्द-वैचित्र्य है, उसकी प्रशंसा जितनी की जाय, थोड़ी है। भाषा-सौंदर्य में, ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में भाषा की दृष्टि से, बिहारीलालजी का आसन सबसे ऊँचा है।

कविवर सेनापतिजी, जिनका ऋतु-वर्णन हिंदी-काव्य-जगत् में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, इसी प्रकार का भाव अपने एक छंद में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

वृष को तरनि-तेज सहसौ किरनि करि
ज्वालनि के जाल विकराल बरसतु हैं;
तचत धरनि, जग जरत झरनि सीरी,
छाँहँ को पकरि पंथी पच्छी बिरमतु हैं।
'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होत
घाम को बिषम यों न पात खरकतु हैं;
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनो
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवतु है।

सेनापतिजी के छंद की भाषा अनुप्रास-पूर्ण होने पर भी बिहारी-लालजी के दोहे की भाषा को नहीं पहुँचती, यह स्पष्ट है। तुकांत

भी निकृष्ट कहे जाने योग्य है। तुकांत में एकवचन 'है' और बहुवचन 'हैं' का प्रयोग श्लाध्य नहीं कहा जा सकता। फिर—

'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होत,
घाम को बिषम यों न पात खरकतु हैं।

यह वर्णन अशुद्ध है। 'होत' पूर्वार्ध में न आकर उत्तरार्ध में 'होत घाम को विषम' के साथ में रक्खा जाना चाहिए था, तब प्रबंध-योजना अच्छी कहलाती। 'होत घाम को बिषम' भी अपूर्ण है। विषम क्या ? यह नहीं लिखा। घाम का विषम क्या होता है ? इसके अभाव के कारण न्यून-पद-दोष है। वहाँ विषम विशेषण के साथ 'प्रकोप' आदि विशेष्य का उल्लेख आवश्यक था। 'घाम को विषम' के स्थान में यदि 'घाम की विषमता' का प्रयोग होता, तो वर्णन ठीक हो जाता। 'सहस्र' का 'सहसौ' भी बेहद तोड़-मरोड़ है। भाषा की तोड़-मरोड़ के साथ-साथ न्यून-पद-दोष और दुष्प्रबंध-दूषण भी सेनापतिजी के छंद के सौंदर्य को नष्ट कर रहे हैं। फिर भाव में भी 'छाँहौ चाहति छाँहँ' वाली बात सेनापतिजी नहीं ला सके हैं। वैसे सेनापतिजी के छंद में वृष-राशि-स्थित सूर्य की ताप का अच्छा वर्णन है। उस काल में जीव-जंतुओं की स्थिति का भी सामान्यतः स्वाभाविक चित्रण है।

जल-विहार

ग्रीष्मांतर्गत जल-विहार का भी बिहारीलालजी ने अच्छा वर्णन किया है। यहाँ मैं दो दोहे उद्धृत करता हूँ। देखिए—

लै चुभकी चलि जाति जित-जित चल-केलि-अधीर
कीजत-केशर नीर से तित-तित के सर-नीर।
(बिहारी-सतसई)

"सरोवर में डुबकी लगाकर जल-केलि में अधीर हुई नायिका जहाँ-जहाँ जाती है, वहाँ-वहाँ के उस सरोवर के जल को अपने

अंग की आभा से वह केशर घुले हुए जल के समान कर देती है।

नायिका के अंग-प्रत्यंग की केशर समान कांति है, अतएव उसके अंग की आभा से सरोवर का निर्मल जल केशर घुले हुए जल के समान हो जाता है। दोहे की भाषा कैसी सुंदर है। शब्द-समृद्धि के बल से बिहारीलालजी ने दोहे में एक निराला चमत्कार बिना शब्दों को तोड़े-मड़ोरे भाषा के सहज सौंदर्य को अक्षुण्ण रखते हुए, ला दिया है। केशर-नीर और केसर-नीर में यमक है। जित-जित और तित-तित में वीप्सालंकार की छटा है। तथा लै, चली, जल और केलि में वृत्त्यानुप्रास की बहार है। माधुर्य और प्रसाद-गुण पर तो बिहारीलालजी का एकाधिपत्य जान पड़ता है।

कोई सखी किसी दूसरी सखी से कहती है—

छिरकौ नाह नवोढ़ दृग कर-पिचकी जल जोर ;
रोचन-रँग-लाली भई विय तिय लोचन-कोर।

(बिहारी-सतसई)

"पति ने हाथ की पिचकारी से इस नवोढ़ा पत्नी के नेत्रों में जल छिड़का। पर उस दूसरी स्त्री अर्थात सपत्नी के नेत्रों के कोए में (सौतिया डाह के कारण ईषत् क्रोध से) गोरोचन के रंग की लाली हो गई।"

यह दोहा भी काव्य-कला-कुशलता का उत्तम उदाहरण है। नवोढ़ा के नेत्रों में जल छिड़का पर लाल हुए सपत्नी के नेत्रों के कोए, अतएव असंगति अलंकार है। नाह, नवोढ़, जल, जोर, रोचन, रंग, लोचन, लाली एवं विय और तिय में भाषा-माधुर्य और छेकानुप्रास की अदभुत छटा है। लोचन की लाली को गोरोचन की लालिमा कहना कवि के व्यापक ज्ञान का साक्षी है।

विस्तार-भय से मैं ग्रीष्म-वर्णन को यहीं समाप्त करता हूँ।

पावस-वर्णन

बिहारीलालजी ने अन्य हिंदी-कवियों के समान पावस-ऋतु का

वर्णन कुछ विस्तार से कहा है। पर हम यहाँ दो-चार दोहे उदाहरण-स्वरूप उद्धृत करते हैं। पावस का भी कैसा सांगोपांग वर्णन कविवर बिहारीलालजी ने किया है, यह दर्शनीय है।

धुरवा होंहि न अलि, उठे धुआँ धरनि चहुँ कोद
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद।
(बिहारी-सतसई)

कोई विरहिणी नायिका पावस को देखकर अपनी सखी से कहती है—

"हे सखी, ये धुरवा नहीं हैं। पृथ्वी में चारों ओर से धुआँ उठ रहा है। (यहाँ धुएँ के रंग के धुरवाओं को धूम्र बनाना बड़ा ही संगत है।) ऐसा जान पड़ता है कि पावस-ऋतु का प्रथम मेघ-मंडल जगत को जलाता हुआ आ रहा है।"

इस दोहे में कवि की उक्ति बड़ी ही अनूठी है। आर्द्रता प्रदान करनेवाला मेघ-मंडल विरहिणी नायिका को प्रियतम के विरह में दाहक जान पड़ता है। धुरवाओं को वह धूम्र समझती है। इसमें एक बात बहुत ही सुंदर है। प्रकृति का अवलोकन और प्राकृतिक वर्णन अनूठा है। चारो ओर धुरवा और मेघ-मंडल का दृश्य बरसात में बड़ा ही सुहावना होता है। विरहिणी भले ही उसे दाहक समझे। दूसरे पक्ष में पावस का प्रथम मेघ-मंडल संसार को दग्ध करता है, कहना भी बिलकुल ठीक है। निदाघ की दीर्घ दाघ से तप्त धरातल पर आषाढ़-मास के प्रथम मेघ जब घिरते हैं, तब असह्य उष्णता होती है। गर्मी इतनी अधिक बढ़ जाती है कि निदाघ की दाघ भी उसके समक्ष कुछ भी नहीं जान पड़ती। तप्त पृथ्वी में से प्रथम वर्षा होने पर 'भभूकें' निकलती हैं। अतएव बिहारीलालजी का 'जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद' कहना बिलकुल ठीक है। इसमें प्रकृति का अच्छा अवलोकन है।

कौन सुनै ? कासों कहौं ? सुरत बिसारी नाह ;
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह ।

(बिहारी-सतसई)

नायिका विरह से व्याकुल हो रही थी। वर्षा-ऋतु के बादलों की ओर देखने से उसकी वेदना और बढ़ भी गई। वह कहती है—

"कौन सुनता है ? किससे कहूँ ? स्वामी ने सुधि भुला दी है। अब ये 'बदराह' 'बदरा' बदाबदी (होड़ा-होड़ी) प्राण लेते हैं।"

इस दोहे में भाषा के समुचित नियंत्रण, भाषा-माधुर्य, शब्दालंकार और स्वाभाविकोक्ति पर ध्यान दीजिए। जो बात एक कवित्त में कठिनाई से कही जा सकती है, उसी को एक छोटे-से दोहे में और उसे भी इतने अनूठे ढंग से कहना बिहारीलालजी का ही काम है। इस दोहे की द्वितीय पंक्ति की भाषा कई कवियों ने अपनाई है।

सुप्रसिद्ध कवि लाल कहते हैं—

बेदरद बैरी बद बदरा बड़े ही बुरे,
नितप्रति तासों प्रान कैसे के बचाए हैं।

हनुमंत कवि कहते हैं—

गावन मोंहिं सुहात नहीं
बदरा बदराह लगे जुरि धावन।

एक और कवि महाशय लिखते हैं—

काह कहौं सखि, नाह बिना
अब ये बदरा बदराह बतावत।

इस प्रकार और भी अनेकों ने किया है। बिहारीलालजी के इसी दोहे के भाव पर सुप्रसिद्ध शृंगारी कविवर बोधा ने अपना यह छंद बनाया है—

ऋतु-पावस स्याम घटा उनई,
लखिकैं मन धीर धिरातो नहीं ;
धुनि दादुर - मोर - पपीहन की
सुनिकैं छिन चित्त थिरातो नहीं ।
जब तें बिछुरे कवि 'बोधा' हितू,
तब तें उर - दाह बुझातो नहीं ;
हम कौन तें पीर कहैं जिय की,
दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं ।

इसमें संदेह नहीं कि बोधा कवि की इस रचना में सहृदयता और भावुकता के साथ-साथ भाषा का स्वाभाविक प्रवाह बड़ा ही मनोरम है। छंद हृदय पर आघात करता है, पर फिर भी 'कौन सुने ? कासों कहौं ?' में जो करुणा का भाव है, जो नैराश्य है, जो हृदय-तल को हिला देनेवाली बात है, वह 'हम कौन तें पीर कहैं जिय की, दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं' में कहाँ है ?

बिरह-जरी लखि जीगननि, कहो सु उहि कै बार;
अरी आव भगि भीतरैं, बरसत आज अँगार ।
(बिहारी-सतसई)

"विरह-दग्ध कामिनी ने जुगनुओं को देखकर कितनी बार अपनी सखियों से कहा कि अरी सहेलियो, आज अँगार बरसते हैं, उठकर भीतर आ जाओ।"

जुगनुओं की चमक में अंगारों की वर्षा का आरोप खूबी से किया गया है। बिहारीलालजी के इसी भाव पर कोई करनेश या परमेश कवि कहते हैं—

कहैं 'करनेश' (परमेश) चमकति जुगनु नचाय,
मेरे मन आई ऐसी उक्ति अनुमान ते ;

बिरही दुखारे तिन पर क्रूर दई मारे,
मानो मेघ बरसत अँगारे आसमान ते।

इन्होंने तो गजब ढा दिया। दूसरे की उक्ति को कितने गर्व से अपना अनुमान कह रहे हैं।

हिंडोला-वर्णन

हेरि हिंडोरे गगन तैं परी परी-सी टूटि;
धरी धाय पिय बीच हीं, करी खरी रस-लूटि।
(बिहारी-सतसई)

कोई अप्सरा के समान सौंदर्यवती, नवयौवना नायिका हिंडोले पर आनंद से झूल रही थी कि अकस्मात् उसका पति आ पहुँचा। पति को देखकर उस सुंदरी को सात्त्विक भाव हुआ, और सात्त्विक में कंप होने से वह हिंडोले से गिर पड़ी। उस समय की अवस्था-विशेष का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

"नायिका को हिंडोले-रूपी गगन से परी के समान धरा-मंडल पर नीचे आते हुए देखकर पति ने दौड़कर उसे बीच में ही 'धरी' (पकड़ी), और 'खरी रस-लूट करी'।"

इस दोहे में हिंडोले को गगन और नायिका को परी बनाकर बिहारीलालजी ने काव्य के साँचे में जिस अनूठे ढंग से उतारा है, वह सर्वथा स्तुत्य है। 'परी परी-सी टूटि' की उपमा और 'हिंडोरे गगन' का रूपक दोनों ही चमत्कार-पूर्ण हैं।

इसी भाव पर, इसी दोहे के पदहरण करके, कवि तोष लिखते हैं—

रावटी तिमहले की बैठी छबिवारी बाल,
देखति तमासो गुड़ि आलिनि लगायो है;
परि गयो नजर हरिन-नैनी जू के हरि,
हरि हू ने तिरछि कटाछहिं चलायो है।

मन सरवरी तरफर गिरी परी ऐसी,
बीच हरि धरि खरी लूटि रस पायो है;
सास-नंद धाइ आईं पायँ गहैं कहैं 'तोष'
आज ब्रजराज घर ऊजरो बसायो है।

इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारीलालजी की भाषा तोष के छंद में बहुत ही ढीली-ढाली हो गई है।

बिहारी	तोष
(१) परी परी-सी टूटि	(१) गिरी परी ऐसी
(२) धरी धाइ पिय बीच हीं करी खरी रस-लूटि।	(२) बीच हरि धरी खरी लूटि रस पायो है।

तोष के छंद में 'रावटी तिमहले को' लिखना अप्रयुक्त जान पड़ता है। 'रावटी' छोटे-छोटे डेरों को कहते हैं, जिनमें तिमंजिला होता ही नहीं। फिर बिहारीलालजी ने हिंडोरे को 'गगन' लिखकर तदनंतर नायिका को उस पर से 'परी परी-सी टूटि' लिखा था। तोष ने 'गगन' का कहीं भी उल्लेख न करके 'गिरी परी ऐसी' लिख मारा। यह न्यून-पद-दोष है। नायिका को तिमंजिले से गिराकर भी तोष ने अच्छा काम नहीं किया। फिर नायिक के गिरने पर नायक का उसे बीच में धर लेना और खरी रस-लूटि करना एवं उसी समय वहीं उस नायिका की सास-ननंद आदि का घबराहट में दौड़ी आना, और नायक से कहना कि तुमने आज उजड़ते हुए घर को बचा लया है, आदि अनौचित्य-पूर्ण वर्णन है। इसमें शृंगार में भयानक का इस तरह स्थायी होना साहित्यिक दृष्टि से कवि के अज्ञान का सूचक है। तोष का छंद बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख यों ही है, ज्यों हीरा आगे काँच।

शरद्-वर्णन

घन-घेरो छुटिगो, हरषि चली चहूँ दिसि राह ;
कियो सुचैनों आय जग, सरद-सूर नरनाह ।
(बिहारी-सतसई)

"घन (रूपी कटक) का घेरा छूट गया । हर्ष हुआ । चारों दिशाओं में लोग प्रसन्नता से यात्रा करने लगे । शरद्-रूपी शूर नृपति ने आकर संसार को सुख-शांतिमय कर दिया ।"

इस दोहे में बादलों के घेरे का या मेघ-मंडल को कटक का घेरा बनाकर संसार-रूपी नगर को चारों ओर से घिरवाना फिर शरद्-रूपी शूर नृपति के आगमन से उस मेघ-मंडल रूपी कटक का हट, जाना एवं सांसारिक लोगों का वर्षा के अनंतर मेघ-मंडल के कटक के घेरे से मुक्त होकर चारों दिशाओं में व्यापारादि के लिए जाना, (जैसा कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में होता था) आदि सच्चे और समीचीन वर्णन हैं । शरद्-ऋतु का चित्र, रूपक की छटा और सरद्-सूर, घन-घेरा, नरनाह आदि की सुंदर योजना सभी प्रशंसनीय हैं ।

अरुन सरोरुह कर-चरन, दृग खंजन, मुख चंद ;
समै आव सुंदरि सरद काहि न करहि अनंद ।
(बिहारी-सतसई)

"अरुण रंग के सरोज इसके हाथ और पैर हैं । (कर-कंज और पाद-पद्म भाषा-साहित्य में प्रसिद्ध हैं ही) खंजन इसके नेत्र हैं । शारदीय पूर्णचंद्र इसका मुख है । यह शरद्-रूपिणी सुंदरी समय पर आकर किसे आनंदित नहीं करती ?"

इस दोहे में शरद्-सुंदरी का रूपक अच्छा है । साथ-साथ शरद्-ऋतु में आनंद देनेवाले चंद्रमा, खंजन और कमल का वर्णन भी कवि के प्रकृति-पर्यवेक्षण की साक्षी देता है । भाषा-माधुर्य तो अनूठा

है ही। 'समै आव' कहकर कवि ने अपनी रसिकता का भी परिचय दिया है।

कई लोग यह आक्षेप करते हैं कि बिहारीलालजी ने यह दोह निम्न-लिखित सुंदर श्लोक को देखकर बनाया है—

समुल्लसित्पंकजलोचनेन विनोदयन्ती तरुणानशेषान् ;
शुद्धाम्बरागुप्तपयोधरश्रीः शरन्नवोढेव समाजगाम।

"उल्लसित-पद्म-पलाश नेत्रा नवोढ़ा-के समान शरद् शुद्धांबर में पयोधरों की शोभा को छिपाए सर्व तरुण युवकों को आनंदित करती हुई आई।"

मैंने श्लोक को जैसा-का-तैसा हिंदी में लिख दिया है। संस्कृतज्ञ श्लोक से और भाषा जाननेवाले हिंदी-रूपांतर से श्लोक के भाव को देखें। फिर एक दृष्टि दोहे के भाव पर करें। दोहे में और श्लोक में बहुत अंतर है। श्लोक में 'शरन्नवोढेव' कहकर कवि ने रूपक को भ्रष्ट कर दिया है, 'पंकजलोचनेन' में रूपक बाँधा, पर शरद् को नवोढ़ा न बना पाया। केवल नवोढ़ा के समान लिखा है। बिहारीलालजी के रूपक में जो बात है, वह अनूठी है। संस्कृत-श्लोक में वैसी काव्य-कला-कुशलता नहीं। संस्कृत-पद्य का 'शुद्धांबर' और 'पयोधर' का श्लेष भी उस कमी को पूरा नहीं कर पाता। फिर दोहे में 'खंजन' और 'चंद्र' से शरद् का वर्णन स्पष्ट हो रहा है। संस्कृत श्लोक में यह बात न होने से बड़ी हीनता है।

तात्पर्य यह कि संस्कृत का श्लोक दोहे से बहुत नीचा है।

महाकवि बिहारीलालजी के उपर्युक्त दोहे का भाव लेकर मुख-चंद्र और खंजन-नेत्रों का वर्णन करते हुए दिनेश कवि ने निम्न-लिखित सुंदर छंद कहा है—

आनँद को कंद लसै मुख-इंदु अरबिंद,
पानिप अमंद तन कीरति की काम की ;

नासा-तिल-कुसुम, प्रकास काँस हाँस मानो
सकै को बखानि खानि सोहै बिसराम की।
खंजन 'दिनेश' दृग, त्रिवली - सरित कुच
कलस उतंग छाई छबि कटि छाम को;
कीजिए कन्हाई मनभाई, आई कुंज-बन
सरद सुहाई कै निकाई उहि बाम की।

दिनेश कवि का यह छंद उत्तम बन पड़ा है। इसमें सुंदरी को शरद् में अच्छे ढंग से दिखलाया है। फिर 'नासा-तिल-कुसुम' एवं 'प्रकास हाँस काँस मानो' कहकर दिनेशजी ने बिहारीलालजी की अपेक्षा शरद् के वर्णन को और भी स्पष्ट कर दिया है। भाषा भी मनोरम और अलंकृत है।

रास-वर्णन

शरद्-ऋतु में कई भाषा-कवियों ने रास का वर्णन किया है। षट्ऋतु का सांगोपांग वर्णन करनेवाले बिहारीलालजी ने भी शरद् के रास का वर्णन किया है। देखिए, कैसी सुंदर उक्ति है—

उयो सरद-राका-ससी, रमत रसिक रस-रास;
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास।
(बिहारी-सतसई)

रसिक श्रीकृष्ण संपूर्ण गोपिकाओं को 'लहाछेह अति गतिन की' के कारण अपने-अपने निकट लखाई पड़ते हैं, किसी से भी दूर नहीं हैं। प्रेम-प्रतिमा कहीं प्रेमियों से दूर हो सकती है? भाषा में निराला बाँकपन, अनूठा शब्द-विन्यास और अलंकारों का आलोक-प्रसाद तथा माधुर्य देखते ही बन पड़ते हैं। दक्षिण नायक का ऐसा वर्णन इतनी पवित्रता से करना प्रत्येक कवि का काम नहीं है।

इसी दोहे के भाव का अपहरण कर पदों तक को तद्वत् लेकर अभिमन्यु कवि कहते हैं—

यमुना के पुलिन उजेरी निसि सरद की,
राका की छपाकर किरन नभ चाल की ;
नंद को लड़ैतो तहीं गोपिका-समूह लैकै
रचा रास-क्रीड़ा बजै बीना डफ ताल की।
लहाछेह गतिन की कही ना परत मोपै,
द्वै-द्वै गोपिकान मध्य छबि नँदलाल की ;
सोभा अवलोकि 'अभिमन्यु' कवि बोल उठो,
एक बार बोलो जय मदन गुपाल की।

एक बार मदनगोपाल की जय बोलते हुए मैं कहता हूँ कि अभिमन्यु के छंद का भाव बिहारीलालजी के दोहे की चोरी का है 'लहाछेह अति गतिन की' का पद हरण करके भी अभिमन्यु ने अच्छा काम नहीं किया। फिर दोहे से कवित्त का भाव टक्कर नहीं ले सकता, यह और भी बड़ा दोष है। भाव में ही क्या, भाषा में भी कवित्त दोहे से दबता हुआ दिखाई देता है।

हेमंत-वर्णन

ज्यों-ज्यों बढ़ति बिभावरी त्यों-त्यों बढ़त अनंत;
ओक-ओक सब लोक सुख, कोक सोक हेमंत।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भाषा की जो उत्कृष्टता है, उस पर रसिक काव्य-प्रेमी हृदय न्योछावर कर देते हैं। ज्यों-ज्यों के पश्चात् त्यों-त्यों का प्रयोग शुष्क वैयाकरण को भी रस-पूरित कर देता है। 'ओक-ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमंत' को देखकर शब्दालंकारों के प्रेमी आनंद-सागर में गोते लगाते हैं। 'त्यों-त्यों बढ़त बिभावरी ...... हेमंत' पर ऋतुकाल के निरीक्षक लट्टू होते हैं। 'ज्यों-ज्यों बढ़त बिभावरी' के आगे 'त्यों-त्यों बढ़त अनंत, ओक-ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमंत' पर रसिक काव्य-प्रेमी बलिहार होते हैं।

हेमंत-ऋतु में रात्रि का बड़ी होना, इससे संयोगी दंपतियों को अनंत आनंद होना तथा चकई-चकवा को, जो रात्रि में बिछुड़ जाते हैं, अनंत शोक होना आदि भी बड़े ही समीचीन, सुहावने और स्वाभाविक वर्णन हैं।

मिलि बिहरत, बिछुरत मरत, दंपति अति रस-लीन,
नूतन बिधि हेमंत की जगत जुराफा कीन।
(बिहारी-सतसई)

"जो 'दंपति अति रस-लीन' हैं, वे मिलकर विहार करते हैं, और बिछुड़ने से वियोगाग्नि में दग्ध होते हुए मरण-तुल्य कष्ट को प्राप्त होते हैं। हेमंत-ऋतु के नूतन विधान को देखो। इसने संसार को (जगत् के लोगों को) जुराफा पक्षी के समान रंग-बिरंगा बना डाला है।"

कितनी स्वाभाविक एवं अलंकृत भाषा में कैसा सुंदर वर्णन है, इसे मर्मज्ञ देखें। कविवर के इसी दोहे का भावापहरण कर प्रसिद्ध कवि ग्वाल लिखते हैं—

जोमदार जीवन को जोम को जगैया बड़ो
आयो अब जाड़ो जग कारन जुराफा-सो।

कियो सबै जग काम-बस, जीते जिते अजेय,
कुसुमसरहिं सर-धनुस कर अगहन गहन न देय।
(बिहारी-सतसई)

"अगहन (कामोद्दीपक होने के कारण) कामदेव का ऐसा वीर दास है, जिसने बड़े-बड़े अजेय लोकों को भी जीतकर सब जग को काम (नृपति) के वश में कर दिया है। वह कुसुमशर कामदेव को हाथ में धनुष-बाण धारण नहीं करने देता। जब भृत्य ही ऐसा वीर है कि उसने सब जगह को जीतकर, अजेय लोगों पर भी विजय प्राप्त करके उन्हें अपने स्वामी के अधीन कर दिया, तब स्वामी को स्वयं धनुष-बाण उठाने की आवश्यकता ही क्या है।"

इस दोहे में अगहन गहन का यमक 'कुसुमसरहिं सर-धनुस कर' का भाषा-सौष्ठव और अगहन का साभिप्राय विशेष्य सभी आनंद-दायी हैं। दोहे की प्रत्येक बात उत्कृष्टतामय अतएव प्रशंसनीय है।

पूस-मास सुनि सखिन मुख साँईं चलत सवार ;
लै कर बीन प्रबीन तिय गायो राग मलार।
(बिहारी-सतसई)

"पूस-मास में सखियों के मुख से यह सुनकर कि स्वामी प्रातः काल विदेश-यात्रा करेंगे, प्रवीण पत्नी ने कर में वीणा लेकर मलार राग गाया। मलार का गाया जाना वर्षा-ऋतु का सूचक है, और संगीत-कोविदों के एक संप्रदाय की ऐसी धारणा है कि यदि विशुद्ध मलार गाया जाय, तो वर्षा होगी। वर्षा कराकर स्वामी को विदेश-यात्रा से रोकने के लिये प्रवीण पत्नी ने मलार राग अलापा, जिससे वर्षा हुई, और महाशय विदेश जाने से रुक गए। इस दोहे में कविवर ने जनश्रुति को आदर दिया है।"

इस दोहे का भावापहरण करके रसिकविहारी उर्फ़ 'रसिकेश' कहते हैं—

सुनिकैं सखियान पै साईं सवार
चले इत पूस को मास जु लागो ;
'रसिकेस' रहो दुख होय महाँ,
अब कीजे कहा सु मनोभव जागो।
कछु ठानो उपाय दई को मनाय,
पसारिक आँचल सो बर माँगो ;
गहिकैं कर बीन प्रबीन तिया
तब हीं तहँ राग मलार सुरागो।

कहना न होगा कि रसिकबिहारीलालजी का यह वर्णन बिहारी-

लालजी के दोहे के सम्मुख नहीं ठहरता। क्या भाव और क्या भाषा, दोनों में ही यह महाशय पिछड़े हुए हैं। इसी दोहे के भाव पर लट्टू होकर इसका अपहरण करते हुए एक और कवि लिखते हैं—

सीत समै परदेस को पीय-पयान सुनो वह रोवन लागी,
या ऋतु में क्यों हूँ ये रहें घर, देवता पूजि मनावन लागी;
और उपाय तक्यौ न कछू, तब साजिकैं बीन बजावन लागी,
प्यारी प्रवीन भरे सुर मेघ-मलार अलापिकैं गावन लागी।

इनका वर्णन तो रसिकबिहारी के वर्णन से भी बहुत नीचा है।

शिशिर-वर्णन

लगति सुभग सीतल किरन, निसि-दिन सुख अवगाहि;
माह ससी-भ्रस सुरज-ज्यों रहित चकोरी चाहि।

"माह-महीने में सूर्य की किरणें उष्ण नहीं, शीतल जान पड़ती हैं। चकोरी भ्रम से सूर्य को चंद्र समझती है। इस प्रकार दिन में शीतल किरणोंवाला सूर्य चंद्र बनकर उसे सुख प्रदान करता है, और निशि में स्वयं चंद्रमा अपनी शीतल किरणों से उसे आनंद प्रदान करता है। इस प्रकार उसे निशि-दिन सुख-ही-सुख रहता है।"

इस दोहे में माह-मास की उत्कट ठंड का वर्णन है, जिसमें सूर्य की किरणों (घाम) में बैठने से भी ठंड दूर नहीं होती।

विस्तार-भय से मैं बिहारीलालजी के ऋतु-वर्णन को यहीं समाप्त करता हूँ। इसमें पाठकों ने देखा होगा कि महाकवि बिहारीलालजी ने प्रत्येक ऋतु का कैसा समीचीन और सांगोपांग विस्तृत वर्णन किया है। केवल सात सौ दोहों की सतसई में प्रत्येक विषय का ऐसा पूर्ण वर्णन देखकर यही कहना पड़ता है कि महाकवि बिहारीलालजी ने गागर में सागर बड़ी खूबी से भर दिया है।

शिख-नख-वर्णन

कविता का राज्य सौंदर्य है। वह सौंदर्य बहिर्जगत् में भी है, और अंतर्जगत् में भी। कविता में बहिर्जगत और अंतर्जगत् दोनों के सौंदर्य का वर्णन प्रचुरता से पाया जाता है। यथार्थ में कला का प्रधान गुण उसका सौंदर्य ही है। कवि सौंदर्योपासक होता है, और प्राकृतिक सौंदर्य को चित्रित करने के साथ-साथ नूतन सौंदर्य की भी सृष्टि करता है। स्मरण रहे, संसार के सपूर्ण कवि सौंदर्योपासक और रूप के प्रेमी कहे जाते हैं। उन्होंने जहाँ रमणी के अंग-प्रत्यंग का बाह्य सौंदर्य वर्णन किया है, वहाँ उसके हृदय के प्रेम एवं करुणा आदि अंतर्जगत के सौंदर्य का भी वर्णन किया है। जो कवि केवल बाहर के सौंदर्य का ही वर्णन सुंदर रूप से करते हैं, वे कवि अवश्य हैं, पर जो कवि मनुष्य के मन के प्रेम, करुणा आदि सौंदर्य का भी सुंदर रूप से वर्णन करते हैं, वे उनसे कहीं श्रेष्ठ हैं। बाह्य सौंदर्य चित्ताकर्षक अवश्य होता है, पर अंतर्जगत् अर्थात् हृदय के सौंदर्य की तो बात ही निराली है। फिर भी बाह्य और अंतर्जगत् के सौंदर्य में एक निगूढ़ संबंध रहता है। मानव-संसार में बाह्य सौंदर्य केवल क्षणिक आनंद देनेवाला नहीं है, उसका एक विशेष मूल्य है। बहिर्जगत का सौंदय माधुर्य-पूर्ण होता है, और वह माधुर्य मनुष्य के हृदय पर प्रभाव डालता है, जिससे मन का विकास होता है। यह निश्चित है कि प्रेम, हर्ष, स्मृति, उत्साह और विस्मय आदि भावों एवं क्षमा, दया और सहिष्णुता आदि गुणों की उत्पत्ति भी इसी बाह्य सौंदर्य के बोध से होती है।

शृंगार-रस में तो सौंदर्य का अटल साम्राज्य रहता है। इसमें

मानवीय रूप-सौंदर्य और प्राकृतिक सौंदय का वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होता है। स्मरण रहे, बहिर्जगत् का सौंदर्य ऐसा है, जिसे हम हृदयंगम तो कर सकते हैं, पर उसकी सृष्टि नहीं कर सकते। मानवीय रूप-सौंदर्य के हम दर्शक-मात्र रहते हैं। यह सौंदर्य वस्तुगत ही होता है। वाह्य सौंदर्य भी बड़ा चित्ताकर्षक होता है। इसके प्रबल आकर्षण को संसार भलीभांति जानता है। यह चक्षुग्राह्य रूप-सौंदर्य सचमुच बड़ा प्रभावशाली होता है। इससे इंद्रिय-तृप्ति और हृदय-तुष्टि होती है। इस संबंध में हिंदी-संसार के प्रतिभाशाली कवीश्वरों ने अपनी प्रखर प्रतिभा के बल से ऐसे सौंदर्य-जगत् की सृष्टि की है, जो हिंदी-साहित्य की एक बहुत विशेषता है। इस प्रकार के साहित्य को शिख-नख या नख-शिख वर्णन का साहित्य कहते हैं। अनेक शृंगारी कवियों ने 'नख-शिख' या 'शिख-नख' के पूरे वर्णन प्रबंधों में लिखे हैं। इनमें से कई कवियों के नख-शिख वर्णन के प्रबंध टकसाली हैं। उनमें बड़ी ही मनोहर उक्तियाँ पाई जाती हैं, जिनमें प्राकृतिक रूप-वर्णन के चित्रण के साथ नूतन सौंदर्य की भी सृष्टि की गई है।

ध्यान रहे, कवि प्रायः आध्यात्मिक होते हैं। वे सुंदरी नायिका के अंग-प्रत्यंगों की ओर संभोग-लालसा से नहीं, बल्कि सौंदर्यार्थ देखते हैं। और, पश्चात् एक नायिका में ही कल्पना के बल से सृष्टि के अनेक सुंदर पदार्थों के सौंदर्य का समावेश करते हैं। वे अनेक पदार्थों के सौंदर्य से नायिका के शारीरिक सौंदर्य का मिलान करके सौंदर्योपासक होने की योग्यता प्रकट करते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि कवि स्थूल जगत का उपासक न होकर आध्यात्मिक होने के कारण सूक्ष्म संसार का रहस्य उद्घाटित करता है। जैसे—

हे खग-मृग, हे मधुकर-श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी।
खंजन,सुक,कपोत,मृग,मीना, मधुप-निकर,कोकिला-प्रबीना।

कुंद-कली, दाड़िम, दामिनी, कमल, सरद, ससि, अहि-भामिनी।
बरुन-पास, मनोज-धनु, हंसा, गज, केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल, कनक-कदलि हरषाहीं, नेकु न संक सकुच मन माहीं।
सुन जानकी तोहि बिन आजू, हरसे सकल पाइ जनु राजू।
(रामचरित-मानस, आ० कां०)

इसमें तुलसीदासजी ने सीताजी का नख-शिख-वर्णन किया है। इसमें कवि एक ही सीता के अंगों में अशेष सृष्टि-सौंदर्य-दर्शन की किस प्रकार इच्छा कर रहा है, क्या कोई कह सकता है कि उसकी दृष्टि कुवासना से मलिन है? ऐसे वर्णनों से तो यही स्पष्ट होता है कि सौंदर्योपासक कवि व्यष्टि में समष्टि का दर्शन करता और कराता है। जैसे—

आनन है, अरबिंद न फूल्यो,
अलीगन, भूले कहाँ मँडरातु हो?
कीर, तुम्हें कहा बाय लगी,
भ्रम-बिंब के ओंठनको ललचातु हो?
'दासजू' ब्याली न, बेनी-बनाव है,
पापी कलापी, कहा इतरातु हो?
बोलती बाल न बाजती बीन
कहा सिगरे मृग घेरत जातु हो?
(काव्य-निर्णय)

इसमें देखिए, एक सुंदरी नायिका के शरीर में ही अरबिंद बिंब, ब्याली, बीन आदि का कैसा आरोप करके कवि ने किस प्रकार उस नायिका के पीछे भ्रमर, कीर, कलापी (मयूर) और मृग आदि को ललचाए हुए दौड़ाया है, एवं फिर किस युक्ति से उन्हें

मना किया है; और सत्य बात का स्पष्टीकरण करके भ्रम निवारण किया है।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि इस प्रकार के सौंदर्य-वर्णन में एक निर्धारित शैली का बहुत कुछ हाथ रहा है। आर्य-हिंदुओं के साहित्य-शास्त्रकारों ने रूप-वर्णन के लिए जो एक आदर्श आकृति निर्दिष्ट कर ली थी, उसी की सीमा के भीतर बहुतेरे वर्णन रहे हैं। इसमें जो शैली है, उसी का अनुकरण कविता स्थापत्य-कला और चित्रकला में किया गया है। कारण यह कि आर्य-सभ्यता के केंद्र भारत में जो आर्य-जाति निवास करती थी, उसकी शारीरिक और मानसिक भावनाओं का जो उद्गम और विकास हुआ, वह प्राचीन संस्कृत-साहित्य से हिंदी में आया है। साथ ही उस जाति की आकृति और सभ्यता को वर्णाश्रम-धर्म ने भी बहुत कुछ अपरिवर्तित रक्खा। इसी से भारत के प्रांतीय कवियों के वर्णनों में बिलक्षण साम्य पाया जाता है। हो सकता, अन्य देशवासियों को इसमें, रुचि-भेद के कारण, कुछ विलक्षणता दिखाई दे। फिर बात यह है कि आज तक रूप-सौंदर्य का कोई सार्वभौमिक सर्वमान्य मापदंड नहीं बन सका। इसमें स्वभाव और शिक्षा के कारण सदैव मतभेद रहेगा। पर यह मतभेद सौंदर्य के आधार के विषय में ही संभव है। स्वयं सौंदर्य के विषय में तो मतभेद हो ही नहीं सकता।

साहित्य-शास्त्र की एक निर्धारित शैली के इस रूप-वर्णन में भी हिंदी-कवियों ने नवीन चमत्कार उत्पन्न किया है, जिसका कारण बाह्य प्रकृति न होकर अंतरंग प्रकृति है। जब बाह्य प्रकृति से अंतरंग-प्रकृति का संबंध होता है, तब भाव साकार होता है। ऐसी दशा में बाह्य आकृति पर अंतरंग मनोभावों की जो छाया पड़त है, उससे बाह्यआकृति में अंतर पड़ता है। वैसे तो बाह्य आकृति का सौंदर्य स्थिर और अपरिवर्तनशील होने से निष्प्राण-सा रहता है,

पर जब उसमें अंतःकरण की स्फूर्ति प्रगट होती है, तब उसमें सजीवता के साथ-साथ नवीनता आ जाती है। फिर भी भिन्न-भिन्न अंगों के लिये जो उपमान नियत किए गये हैं, उनमें उन-उन विशेष अंगों-रूप उपमेय से जो साम्य है, वे केवल काल्पनिक न होकर अनुभूति के आधार पर माने गए हैं। उनमें भी भावों के द्वारा आकृति में जो चंचलता आती है, उसका वर्णन करने के लिये कुशल कलाविद् कवियों ने प्राचीन उपमाओं में जो सुंदर कल्पनाएँ की हैं, उनसे एक निराले, नूतन सौंदर्य की सृष्टि हुई है। यथार्थ में कवि की कुशलता भावों के कारण रूप में जो चंचलता आती है, उसका चित्रण करना है। ऐसे वर्णन ही कठिन होते हैं और ऐसे वर्णनों से ही प्रतिभाशाली कवि की सौंदर्य-सृजनकारी कारयित्री प्रतिभा का चमत्कार परिलक्षित होता है। जैसे किसी अल्हड़ मुग्धा बाला के विषय में बिहारीलालजी कहते हैं—

लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गरूर ;
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

(बिहारी-सतसई)

यथार्थ में सुंदर अंगों का वर्णन मनोभावों के साथ करना ही कवि-कर्तव्य है बाह्य प्रकृति के सौंदर्य से अंतरंग-प्रकृति के सौंदर्य को मिलाकर वर्णन करने से बाह्य प्रकृति के सौंदर्य में शतगुणित अधिक सौंदर्य भासित होता है। इसी से तो हिंदी-भाषा के अत्यंत श्रेष्ठ कलाकार महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि जहान ;
वह चितवन औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।

(बिहारी-सतसई)

इसमें प्रकारांतर से महाकवि ने बाह्य सौंदर्य के साथ भाव-सौंदर्य

के अद्भुत, आनंददायक मेल की आवश्यकता की ओर इंगित किया है।

परम रसीली व्रज-भाषा के पीयूषवर्षी महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने शिख-नख बड़ा ही सुंदर कहा है। इसमें भी स्वाभाविक, सरस वर्णन और सुंदर कल्पनामयी ऊँची उड़ान, दोनों ही दर्शनीय हैं। समर्थ कवि ने अपनी प्रखर प्रतिभा के बल से ऐसा सरस और काव्य-कला-पूर्ण शिख-नख कहा है, जिसे देखकर यही कहना पड़ता है कि विश्व के बहुत थोड़े शृंगारी महाकवियों की रचनाओं में शिख-नख-संबंधी ऐसी अद्वितीय सूक्तियाँ कदाचित् ही प्राप्त हो सकती हैं। इनके इस वर्णन में भी प्रवीण कलाकार का हस्तलाघव दर्शनीय है। यहाँ मैं संपूर्ण वर्णन को विस्तार-भय के कारण नहीं दे सकता। प्रत्येक अंग का वर्णन भी मैं न दे सकूँगा। केवल कुछ बानगी दिखलाना ही मेरा अभिप्राय है। इतने ही से हमारे विज्ञ पाठकों को बिहारीलालजी के शिख-नख-वर्णन की श्रेष्ठता का पता चल जायगा।

केश-वर्णन

छुटे छुटावैं जगत तें सटकारे सुकुमार ;
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार।

(बिहारी-सतसई)

"सुंदरी, सुकेशिनी नायिका के 'सटकारे सुकुमार नील छबीले बार छुटे' जगत् से छुड़ाते हैं, और 'बेनी बँधे' मन को बाँधते हैं। किसी समय भी उनसे नहीं बच सकते।"

यदि छूटे हों, तो संसार से छुड़ाते हैं। (जो स्वयं मुक्त हैं, वे ही दूसरों को मुक्त कर सकते हैं; कितनी सच्ची यथार्थ उक्ति है।) भाषा और भाव दोनों ही श्रेष्ठ हैं। जो स्वयं ही मुक्त नहीं हैं—छूटे नहीं हैं—वे दूसरों को क्या मुक्त करेंगे—छुड़ावेंगे? जो मुक्त

हैं, वे ही जगत् से छुड़ाने में समर्थ हैं। जो बँधे हैं, वे बाँधते ही हैं। जो स्वयं बंधनों में बँधे हैं, वे मन को बाँधने के सिवा मुक्त कर ही कैसे सकते हैं? सटकारे सुकमार छबीले बाल जब छूटे होते हैं, तब वे संसार छुड़ा देते हैं। छुटे बालों को देखकर दर्शक सुध-बुध खोकर संपूर्ण संसार को भूल जाते हैं। और, जब वे बाल बेणी में बँधे रहते हैं, तब मन को बाँधते हैं। मन उन्हीं बालों में बँधकर रह जाता है। फिर वहाँ से छुटकारा नहीं पाता। दोनों दशाओं में मन को किस प्रकार उलझाया है, यह दर्शनीय है। भाषा का औचित्य-पूर्ण, सुंदर, सरस प्रयोग और अनुप्रासिक शब्द-समृद्धि सर्वथा अप्रतिम है। भाव और भाषा दोनों की ऐसी श्रेष्ठतामयी सूक्ति बरबस रसिक काव्य-मर्मज्ञों को विमोहित करती है।

अलक-वर्णन

कुटिल अलक छुटि परति मुख, बढ़िगौ इतौ उदोत ;
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत।

(बिहारी-सतसई)

"टेढ़ी अलक (लट) जब छूटकर मुख-मंडल पर आ गिरती है, तब मुख की द्युति (श्री-प्रभा) ऐसी बढ़ जाती है, जैसे टेढ़ी बिकारी लगने से दाम रुपया हो जाती है।"

ध्यान रहे, छ दाम की एक छदाम होती है, दो छदाम या १२ दाम का एक अधेला होता है, दो अधेलों या २४+१=२५ दामों का एक पैसा होता है। ६४ पैसे या २५×६४=१६०० दाम का एक रुपया होता है। इस प्रकार १ दाम पर यह बंक बिकारी देने से १ दाम का (१)) एक रुपया होता है। अर्थात् उसका मूल्य १६०० गुना बढ़ जाता है। दोहे में कवि का आशय यह है कि मुख पर अलक के बंक होकर आ गिरने से सुंदर मुख की कांति सोलह-

सौगुनी बढ़ जाती है। इस दोहे में गणित-विषयक उपमा को लेकर मुख पर आ पड़ी टेढ़ी लट के वर्णन में महाकवि ने पूर्णोपमा के साथ वर्ण्य विषय की सजीवता को बड़ी ही कुशलता से वर्णन करके पूर्णोपमा का सुंदर निर्वाह किया है। इसमें कुटिल अलक सहित मुख उपमेय, बंक बिकारी-सहित दाम उपमेय, ज्यों वाचक और उदोत धर्म है।

जूरा-वर्णन

कच समेटि कर, भुज उलटि, खए सीस-पट टारि ;
काको मन बाँधे न यह जूरा बाँधनहारि।
(बिहारी-सतसई)

"हाथों से बालों को समेटकर, भुजाओं को उलटकर और भुज-मूलों पर सिर के वस्त्र को हटाकर यह जूड़ा बाँधनेवाली भला किसके मन को नहीं बाँधती!"

भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और स्वभावोक्ति का चमत्कार दर्शनीय है। दोहे में जूड़ा बाँधने की क्रिया का बड़ा ही सजीव और स्पष्ट वर्णन है। यथार्थ में स्वभावोक्ति वह है, जिसमें नेत्रों के सम्मुख वर्णित विषय का सच्चा चित्र खिंच जाय। जिन्होंने किसी सुंदरी को जूड़ा बाँधते हुए ध्यान से देखा होगा, वे ही इसके स्वाभाविक वर्णन की श्रेष्ठता समझ सकेंगे। अस्तु।

बिंदी-वर्णन

प्रथम मैं बिहारीलालजी के वर्णन में से सिंदूर-बिंदी के वर्णन के दो दोहे दिखलाता हूँ, जो हिंदू-समाज में सौभाग्य का चिह्न माना जाता है। देखिए—

भाल लाल बिंदी दिए, छुटे बार छबि देत ;
गह्यो राहु अति आह करि मनु ससि सूर-समेत।
(बिहारी-सतसई)

"सौभाग्यवती सुंदरी नायिका भाल पर लाल बिंदी दिए हुए है, उसपर छूटे हुए केश शोभा दे रहे हैं। यह दृश्य कविवर बिहारी-लालजी को ऐसा जान पड़ता है, मानो चंद्रमा ने सूर्य-समेत होकर अत्यंत साहस करके राहु को पकड़ लिया है। तात्पर्य यह कि केश-रूप राहु ने चंद्रमा-रूप मुख पर चढ़ाई की, पर चंद्रमा ने राहु के विपक्षी सूर्य की सहायता लेकर उसे (राहु को) पकड़ लिया कैसी विलक्षण सूझ है? राहु ग्रहण-समय में चंद्र और सूर्य को ग्रसता है, यह तो सभी कहते हैं; परन्तु बिहारीलालजी कहते हैं कि आज चंद्र और सूर्य ने एकत्र होकर अपने प्रबल शत्रु राहु को पकड़ लिया है। इस दोहे में प्रकारांतर से मेल की महिमा बतलाई है। उत्प्रेक्षा बहुत ही अच्छी है। मुख चंद्र है, काले केशों का समूह राहु है, और लाल बिंदी सूर्य।"

अब एक भिन्न प्रकार का सिंदूर-बिंदी-वर्णन देखिए। इसमें नायिका के भाल पर पूजा द्रव्य के अक्षत भी शोभा दे रहे हैं। लिखते हैं—

भाल लाल बिंदी ललन, आखत रहे बिराज;
इंदु-कला कुज में बसी, मनो राहु-भय-भाजि।

(बिहारी-सतसई)

नायिका की सखी नायक को नायिका के भाल पर लगी हुई अक्षत-युक्त लाल रोरी की बिंदी को दिखलाकर कहती है—"हे ललन! इस सुंदरी नायिका के भाल पर लगी हुई रोरी की लाल बिंदी में जो अक्षत लगे हैं, उन्हें देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो चंद्रमा की कला राहु के डर से भागकर मंगल में आ बसी हो।" यहाँ भी उत्प्रेक्षा का वर्णन बड़ा ही हृदयहारी है। लाल रोरी की बिंदी में सफेद रंग के अक्षत को लाल रंग के मंगल में सफेद चंद्रमा की शुभ्र कला बनाने में कवि ने कमाल किया है।

बिंदी पर बिहारीलालजी ने अनेक दोहे कहे हैं, जो सब महत्त्व-पूर्ण, कला-संपन्न हैं। केशर की चंदन-बिंदी के वर्णन में लिखते हैं—

मिलि चंदन बिंदी दई, गोरे मुख न लखाय ;
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़ै,त्यों-त्यों उघरत जाय।
(बिहारी-सतसई)

कंचन-से शरीरवाली सुंदरी नायिका ने जो केसरिया चंदन की बिंदी लगाई, वह गोरे मुख के रंग से मिलकर रह गई। दिखाई ही नहीं देती। परंतु ज्यों-ज्यों मद की लाली चढ़ती है, त्यों-त्यों वह चंदन की बिंदी उघरती जाती है, अर्थात् अपनी पृथक् छटा दिखलाती है।

तिलक-वर्णन

खौरि-पनच, भृकुटी-धनुष, बधिक-समर तज कानि ;
हनत तरुन-मृग तिलक-सर सुरकि भाल भरि तानि।
(बिहारी-सतसई)

खौर-चिल्ला, भौंहँ-कमान, वधिक-कामदेव, तरुण-जन-मृग और तिलक-तीर सभी उपस्थित हैं।

कितना विशद रूपक है। काम-व्याधा कान तजकर और भ्रकुटि-धनुष पर खौर-प्रत्यंचा चढ़ाकर एवं तिलक-सर लगाकर तरुण-जन मृग को किस प्रकार मार रहा है। बड़ा भयानक समय है। इस तीर की मार से कोई 'तिय-छबि-छाया-ग्राहिणी' के पंजे में न आनेवाला पवनसुत हनुमान-सा ब्रह्मचारी ही होगा, नहीं तो औरों की तो खैर नहीं है, सम-अभेद रूपक का यह दोहा प्रकृष्ट उदाहरण है।

नेत्र-वर्णन

नेत्र-वर्णन में नेत्रों के बाह्य सौंदर्य का वर्णन तो रहता ही है, साथ ही नेत्रों द्वारा प्रेम-पात्र के सौंदर्य का दर्शन, उससे अनुराग

की मन में उत्पत्ति होना तथा नेत्रों के द्वारा प्रेम स्थायी भाव के विभिन्न अनुभवों का स्पष्टीकरण और नेत्रों द्वारा रस, रिस, हर्ष और लज्जा आदि विभिन्न भावों की अनुभूति का प्राकट्य भी वर्णन किया जाता है। नेत्रों की प्रधानता एवं उनके द्वारा भावी प्रदर्शन के महत्त्व को प्रत्येक समझदार भली भाँति जानता ही है। विश्व के प्रायः संपूर्ण कवीश्वरों ने नेत्रों का प्रचुरता से वर्णन किया है। हिंदी में नख-शिख कहनेवाले कवियों ने नेत्रों के बाह्य सौंदर्य और उनके द्वारा अंतरंग प्रेमानुभावों की रमणीय झलक का अद्वितीयप्राय वर्णन किया है। इन सबमें महाकवि बिहारीलालजी का नेत्र-वर्णन तो संभवतः संसार-साहित्य में दुर्लभ है। इनके नेत्र-वर्णन में प्रेम-भाव की सरस अनुभूति के विभिन्न रमणीय दृश्य, कवि-कल्पना की भावमयी नूतन सृष्टि, अलंकारों की सुकर सजावट और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ-साथ परिमार्जित, चुटीली, आनुप्रासिक, मुहाविरेदार, सजीव भाषा तो सोने में सुगंध है। सतसई में नेत्र-वर्णन-संबंधी दोहों की संख्या पचास से भी अधिक है। यहाँ कुछ दोहे उदाहरण-स्वरूप देखिए।

(१) नेत्रों के बाह्य सौंदर्य का वर्णन बिहारीलालजी के अनेक दोहों में अनूठा पाया जाता है। यहाँ कुछ दोहे देखिए—

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न;
हरिनी के नैनान ते हरि नीके ये नैन।

(बिहारी-सतसई)

हे हरि! मैंने इस सुनयना सुंदरी के नेत्रों के समान सुंदर आयत कजरारे नेत्र देखे ही नहीं। कविजन कहते हैं कि हरिणी के आयत लोचन नेत्रों के सौंदर्य का आदर्श हैं, पर इस नायिका के नेत्र हरिणी के नेत्रों से भी अधिक अच्छे हैं। इनकी चितवन की चोट भी गजब की है। और तो ठीक ही, इन्होंने तो त्रिभुवन-विजयी

कामदेव के अमोघ बाणों को भी जीत लिया।

सायक-सम मायक नयन, रँगे त्रिबिध रँग गात ;
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जल-जात लजात।
(बिहारी-सतसई)

उसके मायावी नेत्र-बाणों के समान वेधक मायावी नेत्र अपने शरीर को (लाल श्वेत और काले) तीन रंगों से रँगे हुए हैं। इन कटीले और चंचल नेत्रों को देखकर मछलियाँ, जिन्हें कवियों ने चंचल और कटीले नेत्रों का आदर्श वर्णन किया है, लज्जित हो पानी में छिप जाती हैं ; और श्वेत, अरुण एवं नील कमल, जो सुंदर विस्तीर्ण प्रफुल्लित नेत्रों के आदर्श हैं, लज्जित-संकुचित हो जाते हैं।

रस-सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन ;
अंजन रंजन हू बिना खंजन गंजन मैन।
(बिहारी-सतसई)

"जिसमें हाव-भाव-कटाक्षादि की लहरें उठती हैं, ऐसे शृंगार के रस (जल) में मंजन किए हुए उस बाला के समुज्ज्वल नेत्र सुंदर अमल कमल का मान-मर्दन करनेवाले और अपने स्वाभाविक कजरारेपन से अंजन लगाए बिना ही श्यामता-युक्त चपल नेत्रों के आदर्श खंजन पक्षियों को भी तिरस्कार देनेवाले हैं।"

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन ,
मानहु सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन।
(बिहारी-सतसई)

"झीने (श्वेत) पट के घूँघट में उस सुंदरी के चंचल नेत्र चमचमाते हैं, मानो गंगाजी के निर्मल नीर में युगल मीन उछलते हों।"

नेत्रों के वाह्य सौंदर्य के साथ-साथ चितवन का अनोखापन अवश्य ही चाहिए। यदि चितवन का अनोखापन न हुआ, तो नेत्रों की विशालता, कटीलापन एवं अन्य बाहरी सौंदर्य रसिक सुजान का हृदय आकर्षित करने में सर्वथा असमर्थ ही हैं। बिहारी-लालजी कहते हैं—

अनियारे दीरघ नयनि, किर्ती न तरुनि जहान ;
वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।

(बिहारी-सतसई)

(२) 'नैन-सैन' के विषय में महाकवि का यह दोहा स्मरण रखने योग्य है—

झूठे जानि नसंग्रहे, मन, मुँह-निकसे बैन ;
याही तैं मानहु किए बातन को बिधि नैन।

(बिहारी-सतसई)

"संसार में झूठ बोलने का प्रचार अधिक होने के कारण मन ने मुख से निकले वचनों को झूठा समझकर उनपर विश्वास नहीं किया, मानो यही देखकर विधाता ने मन की सच्ची, विश्वसनीय बातों के निमित्त ही नेत्रों को बनाया है।"

(३) नेत्रों का मन पर कैसा प्रबल प्रभाव पड़ता है। इसके वर्णन में बिहारीलालजी के कई अनूठे दोहे हैं। एक यहाँ देखिए—

नैन-तुरंग अलक-छबि-छरी लगी जिहिं आय ;
तिहि चढ़ि मन चंचल भयो, मति दीनी बिसराय।

(बिहारी-सतसई)

"जो नायिका की लटकी हुई लट को देखकर उत्तेजित हुए हैं—जिन्हें लट की शोभा-रूपी छड़ी आकर लगी है—उन नेत्री-रूप

घोड़ों पर चढ़कर मेरा मन चंचल हो गया है, और उसने मेरी मति (बुद्धि) भुला दी है। मन प्रेम में पड़कर बुद्धि से हाथ धो बैठा है।'

(४) दृष्टि-बाण की मार का जैसा सजीव और सच्चा एवं' काव्य-कला-पूर्ण वर्णन इस महाकवि ने किया है, वैसा संपूर्ण साहित्य-संसार में दुर्लभ है। दो-एक उदाहरण यहाँ देखिए—

तिय कृत कमनैती पढ़ी, बिनु ज्या भौंहँ कमान ;
चल चित बेझौ चुकति नहिं बंक बिलोकन-बान।

(बिहारी-सतसई)

"हे सुंदरी! तूने यह अद्भुत धनुर्विद्या कहाँ पढ़ी है, जो बिना रोदे की भौंहँ-कमान से, तिरछी चितवन के 'बंक' बाण के द्वारा अत्यंत सूक्ष्म और चंचल चित्त-रूपी बेझ (निशाने) को चूकती ही नहीं।"

इस उक्ति में विलक्षण काव्य-चातुर्य है। देखिए, कितनी कला-मय सूक्ति है। कमान है, पर बिना प्रत्यंचा (रोदे) की; तीर है, पर टेढ़ा है, जो निशाना लगाने में व्यर्थ ही है, निशाना भी अत्यंत सूक्ष्म और डोलता हुआ है। इतने पर भी निशाना न चूकना सचमुच विचित्र तीरंदाजी है।

दृगन लगत बेधत हियो, बिकल करत अँग आन;
ये तेरे सब तैं बिषम ईछन तीछन बान।

(बिहारी-सतसई)

"हे सुलोचने! हे सुंदरी! तेरे ये 'ईछन तीछन बाण' सब प्रकार के बाणों से विषम हैं; क्योंकि ये आकर नेत्रों में तो लगते हैं और हृदय को बेधते हैं, एवं अंग-अंग को व्याकुल करते हैं।"

चितवन-तीर (ईछन-बान) सचमुच सबसे विषम ह। कितना विचित्र व्यापार है। ये एक जगह आकर लगते हैं, दूसरा स्थान

बेधा जाता है, और तीसरे स्थान में पीड़ा होती है। यह दोहा असंगति-अलंकार का प्रकृष्ट उदाहरण है। नयन-बाण का नेत्रों में लगना, उससे हृदय का बेधा जाना और अंग-अंग का व्याकुल होना बड़े ही सच्चे वर्णन हैं।

(५) नेत्रों की रूप-पिपासा के विषय में बिहारीलालजी ने एक-से-एक बढ़कर अनूठे कई दोहे कहे हैं। इनमें भी भावोत्कर्ष, कल्पना का प्राबल्य और अर्थालंकार की छटा के साथ मनोहर प्रयोग-साम्य और भाषा-प्रयोग दर्शनीय है। इनमें प्रेम-भाव के मधुर अनुभावों का बड़ा सच्चा, सजीव और हृदयहारी वर्णन है। उदाहरण देखिए—

लीनैं हू साहस सहस, कीनैं जतन हजार ;
लोइन लोइन-सिंधु तन पैरि न पावत पार

(बिहारी-सतसई)

पूर्वानुरागिणी नायिका सखी से कहती है–"हजार साहस धारण करने पर भी और हजार यत्न करने पर भी मेरे लोचन नायक के तन-रूपी लावण्य-समुद्र में पैरकर पार नहीं पाते।" तात्पर्य यह कि नायक के शरीर के लावण्य (सौंदर्य) को देख-देखकर भी मेरे नेत्र तृप्त नहीं होते।

इस दोहे में महाकवि ने लोचनों को पैराक बनाकर बड़ी सुंदर सूक्ति कही है। साहस धारण करने से यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार समुद्र में तैरनेवालों के लिये अनेक भयंकर जल-जंतुओं के कारण बड़े भारी साहस की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार नायिका को भी अनेक चवाइनों आदि की आशंका से नायक के लावण्यमय शरीर की ओर देखने में बड़े भारी साहस की आवश्यकता होती है। हजार यत्न करना कहने से यह तात्पर्य है कि जिस प्रकार अनेक जल-जंतुओं के आक्रमण और अगाध जल में डूबने से बचने के लिये समुद्र में पैरनेवालों को बड़े-बड़े यत्न करने

पड़ते हैं, उसी प्रकार नायिका को भी लोकापवाद के भय एवं चवाइनों की आशंका और दृष्टि से बचने के लिये नायक के लावण्यमय शरीर की ओर देखने में बड़े उपयुक्त उपाय करने पड़ते हैं—सतर्कता से काम लेना पड़ता है। लोइन-सिंधु में लवणमय जलवाले समुद्र और अगाध लावण्य (सौंदर्य) मय शरीर की शोभा का भी अच्छा साम्य ठहरता है। सब मिलाकर दोहा बहुत ही श्रेष्ठ है।

त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाय ;
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाय।

(बिहारी-सतसई)

"चख-तृषा बुझती ही नहीं—दिख-साध पूरी ही नहीं होती। वह सगुण लावण्यमय रूप-जल ऐसा है कि ज्यों-ज्यों संतुष्ट होकर मेरे नेत्र उसे पीते हैं, त्यों-त्यों और-और प्यास बढ़ती है।" कैसा सच्चा सजीव वर्णन है।

नेह न नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय ;
नीर भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय।

(बिहारी-सतसई)

"नेत्रों को यह स्नेह नहीं है, कुछ भारी बला उत्पन्न हो गई है। ये नित्यप्रति अश्रु-जल से भरे रहते हैं, तो भी इनकी प्यास नहीं बुझती।" कैसी सजीव, मनोहर उक्ति है!

जौ लौं लखौं न कुल-कथा, तौ लौं ठिकु ठहराय ;
देखे आवत देखिबो, क्यों हू रह्यो न जाय।

(बिहारी-सतसई)

अर्थ स्पष्ट है। यहाँ भी प्रेम-भाव का अच्छा वर्णन है। रूप-प्यासे नेत्र प्रेम-पात्र को देखने से कहीं रोके जा सकते हैं? इसी प्रकार का यह दोहा भी है—

जस-अपजस देखत नहीं, देखत सींवल गात ;
कहा करौं लालच-भरे, चपल नैन चलि जात ।

(बिहारी-सतसई)

लालची नेत्र प्रेम-पात्र के नख-शिख-सौंदर्य से पूर्ण रहने पर भी ललचना नहीं छोड़ते—

नख-सिख-रूप भरे खरे, तउ माँगत मुसुकानि ;
तजत न लोचन लालची ये ललचौंही बानि ।

(बिहारी-सतसई)

(६) दृष्टि-सम्मिलन के विषय में महाकवि बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे दर्शनीय हैं—

खरी भीर हू भेदिकै कितहू ह्वै उत जाय ;
फिरें डीठि जुरि डीठि सों, सबकी डीठि बचाय ।

(बिहारी-सतसई)

"भारी भीड़ को भेदकर किसी भी राह से होकर नायिका की नजर वहाँ नायक के पास पहुँच जाती है, और सबकी नजरों को बचाकर, नायक की नजर से मिल उस नायिका की नजर फिर साफ कन्नी काटकर लौट आती है।"

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ;
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात ।

(बिहारी-सतसई)

"कहते हैं, नाहीं करते हैं, रीझते हैं, खीझते हैं, मिलते हैं, खिलते और लजाते हैं। लोगों से भरे घर में नायक-नायिका दोनों ही आँखों-ही-आँखों से ये सब बातें कर लेते हैं।"

पहुँचति डटि रन-सुभट लौं, रोकि सकैं सब नाहिं ;
लाखन हू की भीर में आँखि उतैं चलि जाहिं ।
(बिहारी-सतसई)

"लड़ाई के वीर योद्धा के समान डटकर पहुँच जाती हैं। सभी उन्हें नहीं रोक पाते। लाखों की भीड़ में भी उसकी आँखें उस प्रेम-पात्र की ओर चली ही जाती हैं।"

जो तब होत दिखादिखी भई अमी इक आँक ;
लगै तिरीछी डीठि अब ह्वै बीछी को डाँक ।
(बिहारी-सतसई)

"उस समय देखादेखी होने पर जो निश्चय-पूर्वक अमृत मालूम हुआ था, उसी प्रेम-पात्र की दृष्टि अब उसके विरह में बिच्छू के डंक के समान व्याकुल करनेवाली हो गई।"

कहत सबै कबि कमल-से, मो मत नैन पखान ;
नातक कत इन बिय लगत उपजत बिरह-कृसानु ।
(बिहारी-सतसई)

"संपूर्ण कवि नेत्रों को कमल के समान कहते हैं, किंतु मेरे मत से ये नेत्र पत्थर के समान हैं। नहीं तो इन दो के लगते ही—एक दूसरे की, प्रेमी और प्रेम-पात्र की, आँखों के परस्पर टकराने से—विरह-रूपी अग्नि कैसे उत्पन्न होती।"

(७) प्रेम में बहके हुए नेत्रों के वर्णन में भी बिहारीलाल के अनेक सुंदर दोहे हैं। दो यहाँ देखिए—

नैना नेकु न मानहीं, कितौ कहौं समुझाय ;
तन-मन-हारे हू हँसैं, तिनसौं कहा बसाय ।
(बिहारी-सतसई)

"मेरे ये नेत्र मेरी बात जरा भी नहीं मानते, मैं कितना भी समझाकर क्यों न कहूँ। भला, जो तन-मन हारकर भी हँसते ही रहें, उनसे किसी का क्या वश चल सकता है?"

बहके, सब जिय की कहत, ठौर-कुठौर लखैं न,
छिन औरै, छिन और हैं, ये छबि छाके नैन।
(बिहारी-सतसई)

"मेरे ये सौंदर्य-मद में मस्त नेत्र ऐसे बहक गए हैं कि मेरे हृदय की सब बातें कह डालते हैं। ऐसा करते समय ये ठौर-कुठौर (मौका-बेमौका) कुछ भी नहीं देखते। ये क्षण में कुछ और रहते हैं और क्षण-भर में कुछ और हो जाते हैं, अर्थात् ये क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं।"

(८) महाकवि बिहारीलालजी ने नेत्रों को कहीं बाज बनाया है, तो कहीं मुँहजोर तुरंग; कहीं सट्टेवाला बनाया है, तो कहीं ठग; कहीं तांत्रिक बनाया है, तो कहीं चोर; तात्पर्य यह कि उनका वर्णन विभिन्न रूपों में किया है। इन वर्णनों में भी औचित्य का पूरा ध्यान रक्खा गया है। यहाँ विस्तार-भय से केवल दो दोहे दिए जाते हैं। देखिए—

शिक्षा देनेवाली सखी से परकीया नायिका कहती है—

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं;
ये मुँहजोर तुरंग-लौं ऐंचत हू चलि जाहिं।
(बिहारी-सतसई)

"हे सखी! 'लाज-रूपी लगाम को नहीं मानते, नेत्र मेरे वश में नहीं हैं। ये लाज-लगाम खींचते रहने पर भी मुँहजोर घोड़े की तरह चले जाते हैं।' तात्पर्य यह कि लज्जाशील सुंदर नायिका नेत्र रूपी शरीर घोड़ों को लाज की लगाम से खींचती ही रह जाती है; किंतु वे बदलगाम काबू में नहीं रहते, नायक के सुंदर मुख की ओर चले ही जाते हैं।"

यह दोहा भी उत्कृष्ट काव्य-कला-संपन्न है। इसमें यह दिख-लाया गया है कि यदि प्रेम-पात्र—हृदय-मंदिर की आराध्य मूर्ति-सम्मुख हो, तो प्रेमी कितना ही लज्जाशील क्यों न हो, उसके दर्शन करने की अभिलाषा रोकने में कभी समर्थ नहीं हो सकती। उसके नेत्र प्रेम-पात्र की ओर चले ही जाते हैं। विवेक का सवा[र] लाज की लगाम से उन नेत्र-रूप अश्वों को रोकता ही रह जात[ा] है; पर रूप-रस-लोभी नेत्र-रूप 'मुँहजोर तुरंग' चले ही जाते हैं।

इस दोहे में अलंकारों की भी अदभुत छटा है। देखिए—

(अ) नैन उपमेय, मुँहजोर तुरंग उपमान, लौं वाचक औ[र] ऐंचत हू चलि जाहिं धर्म है। इस प्रकार दोहे में पूर्णोपमालंका[र] उत्कृष्ट है।

(ब) ऐंचत हू चलि जाहिं में प्रतिबंधक के रहने पर भी का[र्य] होता है; अतएव इसमें तृतीय विभावना अलंकार है। क्यों[कि] 'कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।'

(स) लाज-लगाम में छेकानुप्रास की छटा है।

नीची ये नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि ;
उठि ऊँचे नीचे दियो मन कुलिंग झकझोरि।

(बिहारी-सतसई)

"उस लज्जाशील नायिका की निपट नीची नजर ने 'कुलिं[ग] पक्षी के नीचे-नीचे उड़नेवाली ही (बाज की जाति की शिक[ारी] चिड़िया) की भाँति ऊपर-ऊपर उड़नेवाले एवं ऊपर-ऊपर [उड़ने] के कारण अपने को निरापद समझनेवाले कुलिंग-पक्षी के स[मान] स्वच्छंद विचरण करनेवाले स्वतंत्र मन को (जो किसी के [प्रेम-] पाश में नहीं बँधा था) नीचे से ऊपर उठकर अपने नीचे द[बा] लिया, अर्थात् मन को अपने बस में ऐसे ही कर लिया, जैसे [कुही] कुलिंग को अपने पंजे के नीचे दबोचकर वश में कर लेती है।

(९) यदि आँसुओं का वर्णन न हो, तो नेत्र-वर्णन अधूरा ही रह जाता है। महाकवि बिहारीलालजी ने आँसुओं का वर्णन भी बड़ा ही अनूठा किया है। यहाँ दो दोहे देखिए—

पलनि प्रगट, बरुनीनि बढ़ि, नहीं कपोल ठहरात ;
अँसुआ परि छतियाँ, छिनक छनछनाय, छिपि जात।
(बिहारी-सतसई)

"उस नायिका के हृदय में विरह-ताप ऐसा बढ़ा हुआ है कि उसके आँसू उबलकर, पलकों में प्रकट होकर और सघन बरुनियों से बढ़कर कपोल पर नहीं ठहरते और संतप्त छाती पर गिरकर क्षण-मात्र में छनछनाकर छिप जाते हैं।

इस दोहे में शब्द-चमत्कार के अतिरिक्त अर्थ-चमत्कार का भी आधिक्य है। विरह-संताप का इस वर्णन में इतना आधिक्य है कि आँसू गिर नहीं सकते—छनछनाकर छिप जाते हैं। दोहे में आँसुओं की उत्पत्ति और पतन के प्रकार का अनूठा वर्णन है। बरुनियों में असुओं का बढ़ाना कहने में ध्वनि यह है कि वियोग-चिंता में अर्द्ध-निमीलित नेत्र थे, इसी से पलकों के अधखुली होने से सघन बरुनियों में आँसू इकट्ठे होना कहा गया है। 'कपोल पर नहीं ठहरते' कहने में ध्वनि यह है कि कपोल सचिक्कण थे। आँसुओं का क्षण-मांत्र छनछनाकर छिपना कहने में ध्वनि यह है कि आँसू अधिकता से और नि:ंतर गिर रहे थे; क्योंकि यदि आँसू थोड़े होते अथवा निरंतर न गिरते, तो क्षण भर भी न ठहरते। आँसुओं के छनछनाकर छिपने से विरह-संताप का आधिक्य स्पष्ट ध्वनित होता है। इस प्रकार संपूर्ण दोहे में वाच्यातिशयी व्यंग्य होने से यह दोहा ध्वनि काव्य का उत्तम उदाहरण है। उत्कृष्ट भाषा की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

तच्यौ आँच अति विरह की, रह्यो प्रेम-रस भींजि ,
नैनन के मग जल बहै हियौ पसीजि-पसीजि
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने आँसुओं का रूपक अर्क से बाँधा है। कितनी हृदयद्राविनी उक्ति है। विरहावस्था में नायिका के जो आँसू बह रहे हैं, वे आँसू नहीं हैं वरन् उसके प्रेम-रस में भींगे हुए हृदय का वह अर्क है, जो विरह-वह्नि की तीव्र आँच के कारण नेत्रों की नलियों से बह रहा है। तात्पर्य यह है कि वियोग-काल के आँसू उसके कलेजे के ही टुकड़े हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस महाकवि का नेत्र-वर्णन अद्वितीय ही है। इनके सिवा जो अन्यान्य दोहे हैं, उनमें भी उत्तम काव्य-कला है। समग्र रात्रि जागरण से नेत्रों का गुल्लाला या रोचन-जैसी लाली पकड़ना, रात्रि-जागरण से प्रातःकाल नेत्रों में साँझ-सी फूलना, अपराधी के नेत्रों का लज्जा से अधोमुख होना, आलस-वलित, अर्धोन्मीलित नेत्रों की कमनीयता, रंग निचुड़ने से नेत्रों द्वारा रँगरेलियों का भेद प्रकट होना, चित्त के प्रेम की चुगली करनेवाले नेत्रों का कुछ विलक्षण ढंग होना, चंद्रमुखी नायिका के चंद्रमुख के सम्मुख अपराधी नायक के नेत्र-कमलों का संकुचित होना, रुखाई-भरी आँखों की चितवन, सहज हँसौहैं नेत्रों की मधुर मुसुकान रिस-वस चढ़ी हुई त्योरियों की भाव-भंगी, प्रेमी-प्रेमिका का आँखों-ही-आँखों में वार्त्तालाप करना, दृष्टि की बरत बाँधकर चित्त-नट का उसपर दौड़ना, आँखों से आँखों के लगने पर आँख का न लगना, आँख से आँख लग जाने पर नेत्रों में किरकिटी पड़ जाने के समान पीड़ा होना, नेत्रों का 'लगालगी' कर हृदय में प्रेमाग्नि लगाना, नेत्र-अश्वों का 'खुँदी' करना आदि-आदि का विलक्षण वर्णन बिहारीलालजी के नेत्र-वर्णन में, मोहक रीति से, कलामय काव्य में, पाया जाता है।

कपोल-वर्णन

बरन, बास, सुकुमारता सब बिधि रही समाय ;
पखुरी लगी गुलाब की गाल न जानी जाय ।
(बिहारी-सतसई)

कोई सुंदरी नायिका पुष्प-शय्या त्यागकर आई है । उसके गाल पर गुलाब की पखुरी लगी हुई है । इसे देखकर सखी कहती है—"बरन (रंग), बास (गंध) और सुकमारता, सबमें सब प्रकार से साम्य होने के कारण मिलकर रह गई । गुलाबी कपोल पर लगी हुई गुलाब की पखुरो जानी ही नहीं जाती ।"

इस दोहे में गुलाब की पखुरी की अरुणता से गुलाबी गाल की अरुणता, उसकी सुंदर धीमी मधुर गंध से शरीर की सुमधुर आनंद-दायिनी गंध और उसकी सुकुमारता से कपोल की सुकुमारता का अनूठा साम्य दिखलाया है । इस वर्णन में सौंदर्य का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है । इस दोहे में मीलित अलंकार का प्रकृष्ट उदाहरण है ।

दशन-वर्णन

नेकु हँसौहीं बान तजि, लख्यो परत मुख नीठि ;
चौका - चमकनि - चौंध में परति चौंध-सी दीठि ।
(बिहारी-सतसई)

नायक किसी स्मितवादिनी, हास्यमयी सुंदरी से कहता है–"हे प्रियतमे ! धीरे-धीरे हँसने की आदत छोड़ दे ; क्योंकि इसमें तेरे सुंदर मुख की ओर देखना कठिन हो जाता है । तेरे थोड़े हँसने में ही जो दाँतों का चौका खुलता है, उसकी चमक से चकाचौंधी पैदा होती है, और मेरी आँखें उसमें चकचौंधिया जाती हैं ।

इस दोहे में कवि बिहारीलालजी ने दंत-द्युति का अच्छा वर्णन किया है । सुंदर दशनावलीवाली नायिका के धीरे-धीरे हँसने में

जो जरा दाँतों का चौका खुलता है, उसकी चमक इतनी तेज होती है कि बिजली-सी कौंद जाती और आँखों में चकाचौंध पैदा हो जाती है। इसी से 'लख्यो परत मुख नीठि'। और इसी कारण मुख-सौंदर्य-सुधा का इच्छुक नायक बड़े दैन्य भाव से उस नायिका से कहता है—'नेकु हँसौही बान तजि'। इस दोहे में नायक द्वारा नायिका के सौंदर्य की प्रशंसा निराले ढंग से व्यक्त की गई है।

चिबुक-गाड़-वर्णन

डारे ठोड़ी - गाड़, गहि नैन बटोही मारि ;
चलिक - चौंधि में रूप - ठग, हाँसी-फाँसी डारि।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में ठग की क्रिया का अच्छा वर्णन है। ठग लोग फाँसी का फंदा डालकर किसी बटोही को मार डालते थे, और मारकर उसे किसी गढ़े में डाल देते थे। इसी बात को लेकर बिहारीलाल-जी ने यह सुंदर रूपक बाँधा है। नेत्र-बटोही 'चिलक-चौंध' में रूप-ठग द्वारा हाँसी-फाँसी डालने से मारे गये हैं। फिर रूप-ठग ने उन्हें लेकर 'ठोड़ी-गाड़' में डाल दिया है। यह दोहा भी बड़ा गंभीर है। गढ़े में डाले हुए क्रिया-हीन मृतक पुरुष गढ़े से कभी निकल ही नहीं सकते। रूप के लोभी नेत्र जो 'ठोड़ी-गाड़' की सुंदरता देखते-देखते अचंचल हो गए हैं—'ठोड़ी-गाड़' से वे कभी हट ही नहीं सकते। यहाँ यह देखिए कि नेत्रों को किस विलक्षणता से फँसाया है।

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न जाति ,
ठोड़ी-गाड़ गड़्यो तऊ उड़्यो रहै दिन-राति।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कैसी चमत्कारिणी उक्ति है। 'ठोड़-गाड़' गड़्यो तऊ

उड़्यो रहै दिन-राति' गढ़े में गड़ो वस्तु भी उड़ रही है। महाकवि बिहारीलालजी असंभव को भी संभव करके दिखला रहे हैं। जिस मन में ठोड़ी की सुंदरता गड़ गई है, जो 'ठोड़ी-गाड़' में गड़के रह गया है (अर्थात् ठोड़ी-गाड़ पर सर्वतोभावेन रीझ गया है), वह उड़ेगा क्यों नहीं!

गोदना-वर्णन

ललित-श्याम-लीला ललन, चढ़ी चिबुक छबि दून,
मधु छाक्यो मधुकर पर्‌यो, मनो गुलाब-प्रसून।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे की मधुर शब्दावली और अलंकृत प्रौढ़ भाषा किसे न मोह लेगी? चिबुक के गोदने को 'मधु छाक्यो मधुकरपर्‌यो, मनो गुलाब-प्रसून' कहकर बिहारीलालजी ने जो उत्प्रेक्षा कही है, उसकी प्रशंसा कौन काव्य-प्रेमी हृदय से न करेगा? सुंदर गुलाबी रंग के चिबुक का नीला गोदना महाकवि बिहारीलालजी को ऐसा जान पड़ता है, मानो मधु से छककर गुलाब-प्रसून में मधुकर पड़ा हो। खूब कहा। यह दोहा भी विदग्ध रसिकों को पुलकित करनेवाला है। इसी पर कोई राम कवि कहते हैं—

कमल-कली पै अड़ि बैठ्यो अलि-छौना किधौं
कामिनी, तिहारे चारु चिबुक डिठौना है।

यह बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख जो कुछ है, सो है।

मुख-वर्णन

सूर उदित हू मुदित मन मुख सुखमा की ओर,
चितै रहत चहुँ ओरसों निहचल चखनि चकोर।
(बिहारी-सतसई)

सूर्योदय होने पर भी चकोर मुदित मन से, निश्चल नेत्रों से मुख-सौंदर्य की ओर चारों ओर से, 'इकटक' देखते रहते हैं। तात्पर्य यह कि चकोर जो चंद्र का अनन्य प्रेमी है, जो चंद्र का सबसे बड़ा पहचाननेवाला है, भ्रांति से सुंदर चंद्र-मुख को ही चंद्रमा समझता है, और दिन के समय चंद्रास्त हो जाने तथा सूर्योदय के हो जाने पर भी चंद्र के बियोग से विकल नहीं होता। वह मुख-चंद्र को निश्चल नेत्रों से देखता हुआ मन में मुदित ही रहता है।

यह दोहा भाषा-प्रौढ़ता और माधुर्य आदि में श्रेष्ठ होता हुआ भी सौंदर्य-वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है। सोचिए तो, कितना सुंदर मुख होगा!

यह तो हुआ खुले मुख का सौंदर्य-वर्णन। अब घूँघट में छिपे हुए मुख का वर्णन देखिए—

छिप्यो छबीलो मुख लसै नीले अंचल चीर,
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर।

(बिहारी-सतसई)

"नीले चीर के अंचल में छिपा हुआ छबीला मुख ऐसी शोभा दे रहा है, मानो कालिंदी के नीर में कलानिधि झलमलाता हो।"

कैसा सुंदर वर्णन है! 'नीले अंचल चीर' में कालिंदी के श्याम जल की कल्पना बड़ी ही संगत है। फिर वायु में फहराते हुए झीने (महीन) नीले वस्त्र के घूंघट में शोभित होनेवाले मुख में कालिंदी के श्याम जल की वायु-वेग से उठने वाली लहरों में कल्लोल करनेवाले चंद्र की कल्पना तो और भी विदग्धता-पूर्ण है। ऐसी-ऐसी रचनाएँ दूसरे कवियों की कविता से बड़ी कठीनता से मिलेंगी, यदि मिलीं भी तो कदाचित इतनी उत्तम न होंगी।

अच्छा, अब देखिए। मुख पर ओढ़नी की किनारी रहती है।

ओढ़नी की किनारी से मुख कैसा सुंदर लगता है, यह देखिए—

जरी कोर गोरे बदन बढ़ी खरी छबि देख,
लसति मनो बिजुरी किए सारद-ससि परिबेख।
(बिहारी-सतसई)

नायिका की सखी नायिका के मुख की ओर दिखलाती हुई नायक से कहती है—

"गोरे (बदन) मुख पर ज़री की किनारी से अत्यंत वृद्धि को प्राप्त हुई शोभा देखिए। ऐसा जान पड़ता है, मानो बिजली से परिवेष्टित शारदीय पूर्ण चंद्र सुशोभित हो रहा हो।" कितनी बाँकी उत्प्रेक्षा है, इसे मर्मज्ञ देखें।

इस प्रकार केवल मुख, घूँघट से ढँके और ओढ़नी की किनारी से परिवेष्टित मुख. का ऐसा उत्कृष्ट और क्रमवार वर्णन सूर के सिवा अन्य किसी हिंदी-कवि ने नहीं किया।

कुच-वर्णन

चलन न पावत निगम मग जगउपजी अति त्रास,
कुच उतंग गिरिवर गह्यो मीना - मैन-मवास।
(बिहारी-सतसई)

कुचों के मारे निगम-मार्ग पर नहीं चल पाते, इससे संसार में अत्यंत त्रास उत्पन्न हुई है। सारा संसार निगम-मार्ग पर न चल सकने के कारण बड़ा त्रस्त हो रहा है। कुच-रूप ऊँचे गिरि पर 'मैन-मीना' (कामदेव-रूपी लुटेरे) ने अपना (मवास) अड्डा बनाया है।" जो वहाँ से बेखबर होकर, असावधान रहकर जाना चाहते हैं, उन्हें वह काम-लुटेरा लूट लेता है, उनकी दुर्दशा करता है। यहाँ ध्वनि यह है कि जिन्हें श्रुति-मार्ग का अवलंबन करना हो, निगम-पंथ पर दृढ़ रहना हो, एवं अपने कल्याण की चिंता हो,

उन्हें चाहिए कि वे कुच-गिरि को बचाकर निकल जायँ, ताकि काम-लुटेरा उन्हें लूट न ले, उनकी आध्यात्मिक संपत्ति को उनसे छीन न ले। कैसे अनूठे ढंग से उपदेश दिया गया है। विलास-रोग से पीड़ित अज्ञानी रोगी को उपदेश की औषधि किस अनोखे ढंग से पिलाई गई है!

भाषा में जग, मीना, मैन, मवास आदि शब्दों की मनोहरता और शब्दालंकार की प्रौढ़ता किसे न मोह लेगी?

कुच के विषय में महात्मा तुलसीदासजी भी कहते हैं—

तुलसी या जग आइकै कौन भयो समरत्थ,
इक कंचन अरु कुचन को किन न पसारे हत्थ।
[दोहावली]

कंचुकी-वर्णन

अब देखिए, बिहारीलालजी किस प्रकार कंचुकी का उत्कृष्ट वर्णन करते हैं। लिखा है:—

भई जु तन-छबि बसन मिलि, बरनि सकैं सु न बैन;
अंग ओप आँगी दुरै, आंगी आंग दुरै न।
(बिहारी-सतसई)

कितना उत्कृष्ट सौंदर्य है? अंग की दीप्ति का कैसा सजीव वर्णन है। इस दोहे के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है; क्योंकि हिंदी-संसार में यह दोहा बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। इसमें मीलित और तृतीय विभावनालंकार का अद्भुत संघट्टन है। शब्दालंकारों के विषय में कहना ही क्या है। माधुर्य-गुण और कैशिकी-वृत्ति स्पष्ट ही है।

कटि-वर्णन

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराइ;
सूछम कटि परब्रह्म-सी अलख लखी नहिं जाइ।
(बिहारी-सतसई)

बुद्धि से अनुमान प्रमाण द्वारा और श्रुति से शब्द प्रमाण द्वारा ब्रह्म के समान कटि के अस्तित्व का कठिनता से निश्चय होता है। उसे प्रत्यक्ष प्रमाण या उपमान द्वारा नहीं जान सकते; क्योंकि वह सूक्ष्म एवं अलख है, अतएव अगोचर है। स्थूल दृष्टि के नेत्रों के द्वारा हम उसे देख ही नहीं सकते।

इसके विषय में विस्तृत वर्णन मैं बहुदर्शिता के अध्याय में कर आया हूँ, पाठक वहाँ देखें। इसमें दार्शनिक सिद्धांत एवं न्याय-शास्त्र के चारों प्रमाणों का उल्लेख बड़े ही अनूठे ढंग से किया गया है। धन्य है बिहारीलाल! तुम नायिका की कटि में भी अखिल विश्व-व्यापी ब्रह्म के दर्शन करते हो। तुम्हारे हृदय की पवित्रता सराहनीय है।

इस दोहे के अनुपम भाव को कई हिंदी-कवियों ने अपनाया है। एक कोई कविजी इसी पर से लिखते हैं—

है तन ही में लखाति नहीं,
बरु बूझिए जाय, तो हैं सब साखी;
मानि लई सब ही अनुमान कै,
पेखी न काहू पसारिकैं आँखी।
जानत साँची कै यातें जहान जो,
आगे तें बेद - पुरानन भाखी;
ब्रह्म - लौं सूक्ष्म है कटि राधे की,
देखी न काहू, सुनी सुनि राखी।

कैसे मजे से उड़ाया है। 'सूक्ष्म कटि परब्रह्म-सी' के स्थान में बेचारों को 'ब्रह्म-लौं सूक्ष्म है कटि' लिख देना पड़ा है। करते तो क्या करते। महाकवि बिहारीलालजी के भाव को उड़ाने में उनके पद का हरण किए बिना काम चल ही नहीं सकता। सवैया में बेचारे कवि महोदय को बार-बार 'पेखी न काहू', 'देखी न काहू'

और 'लखाति नहीं' कहना पड़ा है। चोर चोरी करते समय कुछ घबरा-सा जाता है। जान पड़ता है, कविजी भी बिहारीलालजी का भाव उड़ाते समय घबराए हुए थे। इसी से 'देखी न काहू', 'पेखी न काहू', 'लखाति नहीं' कहते गए, और अंत में जब भावापहरण करते न बना, तो पद-हरण कर डाला। चरण-का-चरण उड़ा मारा। 'सूक्ष्म कटि परब्रह्म-सी' की जगह 'ब्रह्म-लौं सूक्ष्म है कटि' लिख मारा। सवैया दोहे तक कभी नहीं पहुँच सकता।

मीरन कवि भी बिहारीलालजी का भाव उड़ाते हुए लिखते हैं—

बुद्धि अनुमान कै प्रमान परब्रह्म जैसे,
ऐसे कटि छीन कवि मीरन कहत है।

और सब ठीक है, पर 'कवि मीरन कहत है' सफेद झूठ है। इस पर हम क्या कहें। यहाँ तो चोरी और सीनाजोरी का मसला है। पाठक देखें कि मीरन की इस पंक्ति में 'बुद्धि अनुमान.... प्रमान....परब्रह्म....कटि....' ये बिहारीलालजी के दोहे के हैं। 'लौं' का 'जैसे' और सूक्ष्म का 'छीन' करने में मीरन मुँह की खा गए। 'छीन' का ब्रह्म के साथ क्या संबंध? बिहारीलालजी के नक्कालों पर फटकार! दिवाकर कवि कहते हैं—

राधिका के लंक लाल केलि परियंक पर,
नीठि नीठि ईश्वर-सी दीठि ठहराति है।

दिवाकरजी भावापहरण करके भी बिहारीलालजी के भाव का शतांश भी न ला सके। इन्होंने दार्शनिक सिद्धांत की मिट्टी पलीद कर दी। 'ईश्वर-सी दीठि ठहराति है, बिलकुल गलत है। जान पड़ता है, दिवाकरजी ईश्वर के स्वरूप के वर्णन से अनभिज्ञ थे। उन्हें यह भी विदित नहीं था कि ईश्वर दृष्टि का विषय नहीं है। वह 'अलख-अगोचर' है। इसी से वेदों ने उसे 'गोतीत' कहा है।

एड़ी-वर्णन

पाँय महावर दैन को नाइन बैठी आइ ;
फिर-फिर जानि महावरी एड़ी मींड़त जाइ ।
(बिहारी-सतसई)

देखिए, कैसा विचित्र सौंदर्य है—

"नाइन (उस सुंदरी नायिका के) पैरों में महावर लगाने आकर बैठी है । परंतु भ्रम से वह उस नायिका की सुंदर अरुण वर्ण की एड़ी को ही महावर जानकर (बिना महावर लगाए) एड़ी को मीड़ती जाती है ।"

जब वह नाइन—जिसका व्यापार ही महावर लगाना है, जो महावर के रंग से भलीभाँति परिचित है, जो सदैव एक-से-एक बढ़कर सुंदरी स्त्रियों के पैरों में महावर लगाती है—चकित हो गई है, उसे ही एड़ी और महावर के रंग में कुछ अंतर नहीं जान पड़ता, वह स्वयं भ्रम-वश एड़ी को ही महावर जानकर मीड़ती जाती है, तब औरों की क्या गिनती ! एड़ी को 'जावक-सी' कहनेवाले कवि इस वर्णन के सम्मुख झख मारते हैं । "यह भ्रम बादि बाल कवि करहीं" यह दोहा भ्रांति-अलंकार का अच्छा उदाहरण है ।

गति-वर्णन

पग-पग मग अगमन परति चरन अरुण दुति झूलि ;
ठौर-ठौर लखियत उठे दुपहरिया-सी फूलि ।
(बिहारी-सतसई)

"मग में आगमन करते समय पग-पग पर चरण की अरुण द्युति झूल पड़ती है, जिससे ठौर-ठौर ऐसा दिखाई देता है, मानो दुपहरिया फूल उठी हो ।"

यह दोहा भी बड़ा मनोहर है। इसमें अरुणोदय और दुपहरिया के फूल उठने का बड़ा ही सच्चा और प्राकृतिक वर्णन है। अरुणोदय पर दुपहरिया का पुष्प खिल उठता है और दोपहर के समय पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है। इसी से लोग उसे दुपहरिया का पुष्प कहते हैं। यहाँ कवि का आशय यह है कि किसी अत्यंत सुंदरी नायिका का संपूर्ण शरीर तो वस्त्रों से ढका है, पर चरण खुले हैं। इसी कारण मार्ग में चलते समय डग-डग पर (कदम-कदम पर) उसके अरुण चरण की अरुणाई फैलती है, जिसे देखकर ठौर-ठौर के रसिक प्रेमी इस प्रकार प्रफुल्लित हो उठते हैं, जिस प्रकार अरुण के दर्शन से दुपहरिया के पुष्प ठौर-ठौर विकसित होने लगते हैं। सौंदर्यानुराग से हृदय-कली विकसित होती ही है।

भाव की दृष्टि से तो श्रेष्ठ है ही, पर भाषा की दृष्टि से भी यह दोहा बहुत ही ऊँचा है। 'पग-पग' और 'ठौर-ठौर में वीप्सा का अद्‌भुत चमत्कार है। 'पग-पग मग अगमन' में वृत्त्यानुप्रास की बहार है। 'अरुन-चरन' में जो छेकानुप्रास है, वह हृदयहारी है। 'भूल-फूलि' में अंत्यानुप्रास की उत्कृष्टता है। इसके अतिरिक्त 'पग पग परति', 'दुति-दुपहरिया' और 'अगमन-अरुण' आदि में भी जो भाषा-सौष्ठव है, वह दर्शनीय है।

सौंदर्य-वर्णन

बिहारीलालजी के सौंदर्य-वर्णन पर इस आलोचनात्मक ग्रंथ में कुछ लिखना व्यर्थ है; क्योंकि इस विषय में हिंदी में उनका प्रतिद्वंद्वी कोई है ही नहीं। उनकी नाजुकख़याली, बारीकबीनी, इबारत-आराई, अनूठी उपमाएँ, उनके चोज और उनका व्यंग्य, सभी विचित्र हैं। परंतु पाठकों के मनोरंजन के लिए उनके दो-चार दोहे यहाँ उद्धृत किये देता हूँ। देखिए—

मानहु बिधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज ;
दृग-पग पोंछन को किए भूषण पायंदाज।
कहा कुसुम कहा कौमुदी, कितिक आरसी जोति ;
जाकी उजिराई लखे आँख ऊजरी होति।
पहिरि न भूषण कनक के, कहि आवत इहि हेत ;
दरपन कैसे मोरचा देह दिखाई देत।
अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन से सब गात ;
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषण जाने जात।
लिखन बैठ जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गरूर ;
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।
करत मलिन आछी छबिहिं, हरत जु सहज विकास ;
अंगराग अंगन लगै ज्यों आरसी उजास।
भूषण - भार सँभारिहै क्यों यह तन सुकुमार ;
सूधे पायँ न धर परत सोभा ही के भार।
(बिहारी-सतसई)

इनके अतिरिक्त बिहारीलालजी ने भृकुटी, नासा-बेध, नासा-भूषण, बेसर-मोती, कर्ण-भूषण, ग्रीवा-कुच, त्रिबली, जंघा, मुख, पायल और अनवट आदि के वर्णन में भी अनूठे दोहे लिखे हैं। बिहारीलालजी की वर्णन-शैली, भावोत्कृष्टता और काव्य-कला कुशलता के विषय में यही कह देना अलम् होगा कि जब गंग और केशव-से कवियों के वर्णन समता के नहीं तब अन्य कवियों की क्या गिनती ! वे बेचारे किस लेखे में ! स्मरण रहे, बिहारीलालजी ने शिख-नख के वर्णन में पूरा एक शतक लिखा है।

बहुदर्शिता

महाकवि श्री बिहारीलालजी की अनुभूति और उनका व्यापक ज्ञान एवं अंतरंग और बहिरंग प्रकृति का पर्यवेक्षण उनकी सतसई पढ़ने पर सहज ही बोधगम्य हैं। यह बात अवश्य है कि वह कला को सत्य और शिव, परंतु सुंदर अर्थात् श्रेय और प्रेय रूप में अभिव्यक्त करने की प्रणाली में आर्य - साहित्य के वैज्ञानिक विश्लेषणमय शाहित्य-शास्त्र के अनुगामी थे, परंतु उनकी रचना में काव्य की पूर्ण आत्मा प्रतिष्ठित है। किसी भी प्रणाली से विचार करो, पर यह निर्णय तो अंत में सभी को मान्य है कि काव्य यथार्थ में आत्मा की मनोरथ संकल्पात्मक अनुभूति है, जो व्यक्ति द्वारा प्रकट की जाने के कारण उसकी निजी अनुभूति कही जा सकती है। ऐसी अनुभूति अन्य मनुष्यों में भी होती है, पर वे न तो वैसी सुंदर, सजीव कल्पना कर सकते हैं, और न उसे सरस प्रवाहमयी, भावानु-गामिनी भाषा में अलंकृत और सुहावने रूप ही में व्यक्त कर पाते हैं। संसार में विविध विषयों का अनुभूति को परिचित ज्ञान के साथ प्रेय-श्रेय रूप में व्यक्त करना ही कलाविद का कार्य होता है।

बिहारीलालजी कलाविद् थे। वह यह जानते थे कि काव्य में ज्ञान-धारा अवश्य है, पर काव्य यथार्थ में श्रेयमय प्रेम-धारा प्रधान रचना है। इसी से बिहारीलालजी के काव्य में प्रेम के विभिन्न अनुभावों की अभिव्यक्ति में आत्मा की अभिव्यंजना का मनोरम रूप है, जिसकी अभिव्यक्ति का उपकरण नर-नारी और परमात्म-विषयक प्रेम-वर्णन है। इसे हम प्रेम-वर्णन के अध्याय में दिखला चुके हैं। यहाँ बिहारीलालजी की अन्य अनुभूतियों और उनके व्यापक ज्ञान का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

कविवर बिहारीलालजी ने अपनी अनुभूति से प्रेममय होकर प्रेय-श्रेयमयी एकरूपता की झाँकी देखी थी, और इसी कारण आत्मा की उस कल्पनामूलक अनुभूति को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—

मैं समुझ्यौ निरधार यह जग काँचौ काँच सौ ;
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत यहाँ।
(बिहारी-सतसई)

विश्व के एकत्व के ज्ञान के साथ-साथ आनंदमय विज्ञान की अनुभूति भी रसज्ञ कवि ने अवश्य ही की थी, इसी से तो विश्व के मूल परमात्मतत्त्व की भावयोगमयी अभिव्यंजना उनके निम्न-लिखित दोहे में प्रतिष्ठित है—

मोहनि मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जाइ ;
बसत सु-चित अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारीलालजी दौलत पर मरनेवाले नहीं थे। उन्होंने स्वयं अपने इष्टदेव परमात्मा से योग-क्षेम की प्रार्थना करते हुए लिखा है—

तौ अनेक अवगुन भरी चाहै याहि बलाय ;
जो पत संपत हू बिना यदुपत राखै आय।
(बिहारी-सतसई)

यह भाव महात्मा कबीरदास के निम्न-लिखित दोहे के उत्कृष्ट भाव से अधिक जोरदार है—

मोको एता दीजियौ जामैं कुटुम समाय ;
आप न भूखा मैं रहूँ, साधु न भूखा जाय।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी सम्राटों, नरेशों एवं श्रीमानों में रहे हैं। उन्होंने श्रीमानों में रहकर भी उनके धन-मद की सदैव तीव्र निंदा की है। लिखा है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाइ ;
उहिं पाँयें बौरात है, इहिं खायें बौराइ।
(बिहारी-सतसई)

उन्होंने कर्मचारियों और अधिकारियों को उनकी प्रवृत्तियों और उनके प्रजा-विरोधी कर्मों पर खूब ही झिड़का है। लिखा है—

दिन दस आदर पायकें कर लै आपु बखान :
जौ लगि काग सराधपख तौलगि तुव सनमान।
गोधन तू हरष्यौ हियैं, लेहु घरीक पुजाय ,
जानि परैगी सीस पै परत पसुन के पाँय।
(बिहारी-सतसई)

द्वितीय दोहे में अन्य मनुष्यों को पशु समझकर उनसे पशु-जैसा व्यवहार करनेवाले, अधिकार-मद में डूबे मनुष्य को जो झिड़की दी है, उसमें कुव्यवहार के दुष्परिणाम की ओर बड़ी कुशलता से जोरदार इशारा है। अत्याचारी शासक के अंतिम परिणाम का सच्चा दृश्य बड़े ओजस्वी ढंग से उपस्थित किया गया है।

श्रीमान् लोग बहुधा दुर्गुणों से युक्त रहकर भी कीर्ति चाहते हैं। उनके आश्रित लोग उनका यशोगान करते रहते हैं, और श्रीमान लोग उस यशोगान को श्रवण कर सचमुच अपने आपको उस यश के अधिकारियों के समकक्ष बड़प्पन से संपन्न समझने की भूल कर बैठते हैं। इस प्रकार के दंभ-पूर्ण, भ्रमात्मक आचरण पर कवि-वर बिहारीलालजी ने उन्हें झिड़का है। उन्होंने ऐसे मिथ्या यश की व्यर्थता बतलाते हुए कहा है—

बड़े न हूजे गुनन बिन बिरद बड़ाई पाय ,
कहत धतूरे सों कनक गहनो गढ़्यौ न जाय ।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी ने संपत्ति के बढ़ने पर मन के बढ़ने की अनुभूति करके ठीक ही कहा है—

बढ़त-बढ़त संपति-सलिल मन-सरोज बढ़ि जाय ,
घटत-घटत फिर ना घटे, बरु समूल कुम्हलाय ।
(बिहारी-सतसई)

प्रकृति में विभिन्नता के दर्शन करनेवाले सूक्ष्मदर्शी कविवर बिहारीलालजी ने देखा था कि प्रकृति संपूर्ण प्राणियों में विभिन्नता का दृश्य दिखला रही है। उन्होंने यह भी देखा था कि लाख सर पटकने पर भी प्रकृति में अंतर नहीं आता। अपने पृथक्-पृथक् स्वभावानुसार सब लोग कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इस दार्शनिक सत्य की अनुभूति के बाद ही बिहारीलालजी ने लिखा है—

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीच ,
नल-बल जल ऊँचौ चढ़ै, अंत नीच कौ नीच ।
(बिहारी-सतसई)

प्रयत्न से नल का बल पाकर जल ऊँचा चढ़ जाता है, पर फिर भी स्वभाव से अधोगतिशील ही रहता है। नीच प्रकृति के लोग समझाने पर भी नहीं समझ पाते, प्रयत्न करने पर भी नहीं सुधर पाते। वे तो स्वभाव ही से अधोगतिशील रहते हैं।

बिहारीलालजी केवल पुरानों ही का आदर नहीं करते। यदि पुराने सदोष हों; तो वे उनके मत से निकृष्ट हैं, त्याज्य हैं। वे नवीनों को सम्मानित हुआ देखना चाहते हैं, यदि उनमें गुण हों। तात्पर्य यह कि पुराने यदि सदोष हों, तो त्यागने योग्य हैं, और नवीन यदि गुणमय हों, तो अंगीकार करने योग्य हैं। उन्होंने लिखा है—

यदपि पुराने बक तऊ सरवर निपट कुचाल ,
कहा भयो जो नए भए ये मनहरन मराल ।
(बिहारी-सतसई)

क्षुद्र हृदय के लोग अपने मुख अपनी प्रशंसा करते हुए बड़ी-बड़ी बातें मारा करते हैं। यह संसार में अधिकता से देखने से आता है। बहुदर्शी बिहारीलालजी ने इस पर कैसा जोरदार व्यंग्य करते हुए लिखा है—

ओछे बड़े न ह्वै सकैं लगि सतरौंहैं बैन ,
दीरघ होंहिं न नेकहूँ फारि निहारैं नैन ।
(बिहारी-सतसई)

अल्पवित्त के छोटे लोग—दुर्बल-हृदय के तुच्छ लोग—भला बड़े वित्त के बड़े लोगों—उदार-हृदय के महाशयों—के किस काम के ? कविवर लिखते हैं—

कैसैं छोटे नरन तैं सरत बड़न के काम ,
मढ़्यौ दमामा जात क्यों लै चूहे कौ चाम ।
(बिहारी-सतसई)

द्रव्य-संग्रह के विषय में कविवर ने बहुत ही ठीक कहा है—

मीत न नीत गलीत यह जो धरिए धन जोरि ,
खाएँ - खरचैं जो बचे, तो जोरिए करोरि ।
(बिहारी-सतसई)

सच है, खाने और अत्यंत आवश्यक खर्चों के सिवा जो कुछ बचे, उसे संग्रह करना ही अच्छा है। खाने और आवश्यक खर्च करने में कमी करके गलीच बनकर कुछ संग्रह करना यथार्थ में वेदनामय होने से बुरा है।

संसार में बहुधा लोग अयोग्य होते हुए भी अपनी योग्यता का अभिनय करते हैं। श्रीमानों में बहुधा यही होता है। इस अनभिज्ञता के कारण गुण-हीन श्रीमान् बहुधा अयोग्य व्यक्तियों को

गुणी समझकर उनका आदर करते हैं, और यथार्थ गुणी लोगों का तिरस्कार करते हैं। बिहारीलालजी ने यही देखकर लिखा है—

अरे हंस वा नगर में जैयो आपु सम्हार ;
कागन सों जिन प्रीति कर कोयल दई बिडार।
(बिहारी-सतसई)

ऐसे दंभी गुण-ग्राहकों पर हजार धिक्कार !

अयोग्य होते हुए भी अपनी मर्मज्ञता प्रदर्शित करने का दुस्साहस करनेवाले दंभी लोगों का बिहारीलालजी ने खूब ही उपहास किया है। लिखा है—

करु लै सूँघि सराहिकै सबै रहे गहि मौन ;
गंधी, गंध गुलाब कौ गँवई गाहक कौन।
(बिहारी-सतसई)

यहाँ 'गँवई' ध्वन्यात्मक शब्द-प्रयोग अज्ञानता के अर्थ में उसी प्रकार है, जिस प्रकार नागर या नागरी प्रवीणता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक मनचले आलोचक, जो ध्वन्यात्मक अर्थ ही नहीं समझ पाते, इसमें ग्रामीणों की निंदा सूँघकर एक पत्र में बिहारीलालजी पर कटाक्ष करने का निंद्य कार्य कर बैठे थे। इन अज्ञानी, मनचले विद्वान बननेवाले साहित्य-संहारकों को लक्ष्य करके ही तो बिहारीलालजी ने यह दोहा लिखा है—

सीतलताऽरु सुगंध की घटै न महिमा मूरि ;
पीनसवारो जो तजै सोरा जानि कपूर।
(बिहारी-सतसई)

अयोग्य व्यक्ति सिफारिशों अथवा ममता के बल से चाहे जितना सम्मानित क्यों न किया जाय, पर वह आदरणीय श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ ही रहता है, और गुणी पुरुष सिफारिश अथवा ममता आदि के बल से रहित होते हुए भी, बेमन से रक्खे

जाने पर भी, अपने गुण के कारण उच्चासन प्राप्त कर ही लेता है। गुण ही पूजनीय होता है। इस बात का अन्योक्ति के आवरण में बिहारीलालजी ने निम्न-लिखित दोहे में इस प्रकार वर्णन किया है—

मूड़ चढ़ाएँ हू रहै परयो पीठि कच-भार ;
रहैं गरैं परि राखिबौ तऊ हियैं पर हार।
(बिहारी-सतसई)

कच-भार को गुण-हीन और हार को गुणवान बनाकर फिर उन्हें क्रम से पीठ पर पीछे पड़े रहने और सम्मुख हृदय पर रहने का वर्णन बड़ा ही श्रेष्ठ और कलामय हुआ है। भाषा में मुहावरों के बल से गंभीर अर्थ-व्यक्ति का मोहक गुण आ गया है।

दिनों के फेर का भी महाकवि बिहारीलालजी ने तमाशा देखा था। इसी से लिखा है—

मरत प्यास पिंजरा परयो सुआ समै के फेर ;
आदर दै - दै बोलियत बायस बलि की बेर।
(बिहारी-सतसई)

कभी-सभी मदांध लोग आदरणीय का भी तिरस्कार कर बैठते हैं। इसे लक्ष्य कर लिखा है—

जो सिर धरि महिमामयी लहियत राजा राउ ;
प्रगटत जड़ता आपनी मुकुट सो पहिरत पाँउ।
(बिहारी-सतसई)

सच है, सम्माननीय का अनादर करनेवाले अपनी ही जड़ता प्रकटित करते हैं।

अत्यंत विनम्रता प्रदर्शित करने पर भी दुर्जनों का विश्वास न करना चाहिए। वे स्वार्थी दाँव देखकर हानि पहुँचानेवाले और अपना स्वार्थ सिद्ध कर ले जानेवाले होते हैं। बिहारीलालजी कहते हैं—

न ए बिससिए अति नए दुरजन दुसह सुभाय ;
आँटे पर प्रानन हरत, काँटे-लौं लगि पायँ ।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी भव-बाधा से त्रस्त अवश्य ही हुए थे, इसी से लिखा है—

मेरी भव - बाधा हरौ राधा नागरि सोय ;
जा तन की झाँईं परे स्याम हरित-दुति होय ।
(बिहारी-सतसई)

संसार के चक्कर में पड़कर—संसार के कष्टों को देखकर—कायरों के समान भाग खड़े होना बिहारीलालजी को अभीष्ट नहीं । वह संसार के कष्टों एवं दुःखों पर विजय प्राप्त करनेवाले कर्म-योगी का मार्ग ठीक समझते हैं । जो सांसारिक बाधाओं से डरकर भागना चाहते हैं, वे बाधाओं द्वारा परास्त किये जा सकते हैं । संसार की बाधाओं के कारण उसे छोड़कर भागने की नीति का अवलंबन करनेवाले को लक्ष्य कर बिहारीलालजी मृग और जाल की अन्योक्ति के आवरण में कहते हैं—

को छूट्यौ इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलाय ;
ज्यों-ज्यों छूटि भग्यो चहै, त्यों-त्यों उरझतु जाय ।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी दुःख से परिचित हुए पर दुःख में भी उन्हें सुख के दिनों की आशा थी । लिखा है—

इहि आशा अटक्यौ रहै अलि गुलाब के मूल ;
ह्वै हैं फेर बसंत - ऋतु इन डारन वे फूल ।
(बिहारी-सतसई)

उनके जीवन में फिर वसंत आया या नहीं कौन कह सकता है ? तात्पर्य यह कि महाकवि बिहारीलालजी का ज्ञान अपरिमित

था। उनकी बहुदर्शिता उनकी सतसई में प्रकट हो रही है। वह अपने व्यापक ज्ञान और विलक्षण पांडित्य के ही कारण हिंदी के शृंगारी कवियों के सिरमौर हैं। यहाँ विभिन्न शीर्षकों में बिहारी-लालजी के व्यापक ज्ञान की गरिमा की एक संक्षिप्त झलक दिखलाना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसमें सर्व-साधारण बिहारीलाल-जी के अनूप पांडित्य के विषय में अनेकानेक ज्ञातव्य बातें जान सकें।

१. पौराणिक बिहारी

मोर-मुकुट की चंद्रिकन यों राजत नँदनंद,
मनु ससि-सेखर की अकस किए सिखर सतचंद।
(बिहारी-सतसई)

मोर-पख में जो चंद्र का आकार होता है, उसे सबने देखा होगा। प्रकृति-निरीक्षक बिहारीलालजी ने इसी को देखकर, श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान शंकर के युद्ध की पौराणिक आख्यायिका का सहारा लेकर उत्प्रेक्षालंकार में कितने अनूठे ढंग से बात कही है, यह देखिए, और प्रखर प्रतिभा-संपन्न महाकवि की प्रशंसा कीजिए।

"मोर-पख के मनोहर मुकुट की चारु चंद्रिकाओं से नंदनंदन भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार शोभित होते हैं, मानो चंद्रमौलि भगवान शंकर के विरोध से उन्हें नीचा दिखलाने के लिए अपने सिर पर सौ चद्रमाओं को धारण किया हो।"

भगवान् शंकर के सिर पर तो केवल एक चंद्र है, परंतु श्रीकृष्ण प्रभु ने सौ चंद्रमाओं को प्रकट करके अपने सिर पर धारण किया है।

महाभारत में वर्णित द्रौपदी-चीर-हरण की आख्यायिका अत्यंत प्रसिद्ध है। भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से द्रौपदी का चीर ऐसा बढ़ा कि दुःशासन खींचते-खींचते थक गया, पर उसका छोर न पा सका।

कविवर बिहारीलालजी इसी आख्यायिका का सहारा लेकर किसी विरहिणी नायिका का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

रह्यो एँचि अंत न लह्यो अवधि-दुसासन वीर ;
आली, बाढ़त विरह ज्यों पंचाली को चीर।
(बिहारी-सतसई)

"अवधि (के समय) रूप वीर (महारथी) दुःशासन विरह-रूपी वस्त्र को खूब ही खींच रहा है, पर उसका छोर हाथ नहीं आता। हे सखी, वह (विरह) द्रौपदी के चीर के समान बढ़ता ही जाता है, घटता नहीं।"

रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालंकार की छटा इस दोहे में दर्शनीय है। इस दोहे में कितने पते की बात कही गई है, इसे वे ही जान सकते हैं, जिन्हें विरह की व्यथा सहनी पड़ी हो, एवं जो अवधि की घड़ियाँ गिनते-गिनते मिलन के लिए अत्यंत उत्कंठित होते रहे हों।

दैत्यराज बलि ने बड़े-बड़े यज्ञ वेद-विहित विधि से किये थे, उनके करने से वह सुरलोक में इंद्रासन प्राप्त करने के अधिकारी हो गये थे। यह देखकर इंद्र भयभीत हुए। इंद्र ने देवताओं की माता अदिति को भगवान् विष्णु के पास भेजा, और यह प्रार्थना कराई कि भगवान् विष्णु किसी भी प्रकार दैत्यराज बलि को इंद्रासन का अधिकारी न बनने दें। बलि दैत्यराज थे, अतएव उनका इंद्र होना भगवान् विष्णु को भी हानिकर प्रतीत हुआ। यद्यपि बलि से कोई हानि नहीं थी, पर उनके संबंधी दैत्यों से बहुत-कुछ अनिष्ट की आशंका थी, क्योंकि बलि के देवनायक होने पर उनके संबंधी बलवान् हो जाते, यह अवश्यंभावी था। पूर्णरूपेण विचार करके भगवान् विष्णु ने वामन-अवतार धारण किया। वह बलि के यहाँ पहुँचे। यज्ञ की पूर्णता के लिए अतिथि-सत्कार करना आवश्यक जान बलि ने उनका यथोचित सत्कार किया।

वामन ने अनुकूल समय देखकर दैत्यराज बलि से तीन डग धरती तपस्या के अर्थ आश्रम बनाने के निमित्त माँगी। बलि ने इस तुच्छ माँग को बिना किसी हिचकिचाहट के सहर्ष स्वीकार किया। दान माँगते समय भगवान् वामन का रूप बहुत छोटा था; परंतु दान लेते समय उन्होंने विराट् स्वरूप धारण कर लिया, और तीन डग में सुरलोक और मृत्युलोक आदि को नाप लिया। यह कथा भागवत में विस्तार से कही गई है। इसी कथानक का उल्लेख करते हुए कविवर बिहारीलालजी ने व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य में कैसी विदग्धता से किसी गोपिका द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति कहलाया है—

छ्वै छिंगुनी पहुँचौ गलित अति दीनता दिखाय ;
बलि-बामन को ब्यौंत सुनि को बलि तुम्हैं पत्याय।
(बिहारी-सतसई)

"हे श्रीकृष्ण, तुम अत्यंत दीनता दिखाकर 'छिंगुनी' छूकर पहुँचा पकड़ते हो, पर ऐसी कौन होगी, जो बलि और वामन की कथा और उसका कपटमय व्यवहार (सुन) जानकर भी तुम पर भरोसा करे।"

यह दोहा अच्छा बन पड़ा है। छ्वै, छिंगुनी, दीनता दिखाय और बलि-बामन-ब्यौंत की मधुरता देखिए, एवं लोकोक्ति, दृष्टांत छेक और वृत्त्यानुप्रास की स्पष्टता और उनके स्वाभाविक सौंदर्य पर ध्यान दीजिए। नायिका के गूढ़ व्यंग्यमय परिहास का यह दोहा उत्कृष्ट उदाहरण है।

कौरवराज दुर्योधन को यह शाप था कि जब तुझे हर्ष और शोक एक ही साथ होंगे, तब तेरे प्राण जायँगे। इसी आख्यान का आधार लेकर कविवर बिहारीलालजी कहते हैं कि किसी नायिका को पीहर जाने का तो हर्ष था, पर प्रियतम के बिछुड़ने का दुस्सह दुःख। इस हर्ष-शोकमय स्थिति में पड़कर वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रही थी। उसकी अवस्था शोचनीय-सी हो रही थी। देखिए, इसी बात को

पूर्णोपमालंकार की मधुरता में परिपक्व कर बिहारीलालजी दोहे की पिटारी में किस प्रकार रख रहे हैं। लिखते हैं—

पिय-बिछुरन का दुसह दुख हरष जात प्यौसार ;
दुरजोधन - लौं दीखियत तजत प्रान इहि बार।
(बिहारी-सतसई)

कौरवराज दुर्योधन को जल-स्तंभन-विद्या सिद्ध थी। उसी के बल से वह सरोवर में जल के भीतर कई दिन तक उस समय छिपकर रहे थे, जब युद्ध का प्रायः अंत हो गया था, और उनके ९९ भाई मारे जा चुके थे। कहते हैं, वहाँ वह कोई प्रयोग सिद्ध कर रहे थे। यदि वह उसमें सफल हो जाते, तो अपने भ्राताओं को पुनरुज्जीवित कर लेते। परंतु पराक्रमी भीमसेन ने उनका सारा खेल बिगाड़ दिया। भीमसेन ने सरोवर के तट पर खड़े होकर उनसे कायर और निर्लज्ज आदि शब्द कहे, जिन्हें श्रवण कर वह क्रोधोन्मत्त हो सरोवर के जल से बाहर निकले एवं भीमसेन से गदा-युद्ध करने पर मारे गए। इस कथानक से दुर्योधन की जल-स्तंभन विद्या का उल्लेख करते हुए बिहारीलालजी ने किसी व्यथित नायिका से कहलाया है—

बिरह-बिथा-जल-परस-बिन बसियत मो हिय-ताल ,
कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुरजोधन-लौं लाल ;
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कोई प्रोषितपतिका नायिका अपने हृदय-देश में बसी हुई अपने प्रितयम की मूर्ति को प्रत्यक्ष प्रितयम समझकर कहती है—

"हे लाल ! दुर्योधन के समान आप भी जल-स्तंभन की कोई विधि जानते हो, इसी कारण विरह-व्यथा-रूपी जल के स्पर्श से बचे रहकर आप मेरे हृदय-सरोवर में वास करते हो।"

यह दोहा काव्य-कला-कुशलता और भावुकता में अद्वितीय है। इसमें नायक की कठोर-हृदय दुर्योधन से उपमा कितनी स्वाभाविक

है। प्रेमिका के सरस, प्रेमी हृदय को 'हिय ताल' के रूपक में रखना कितना स्वाभाविक और चमत्कारी है। 'विरह-बिथा-जल परस-बिन' कहने के पश्चात् 'कछु जानत जल-थंभ-बिधि' कहने में जो भाव और चातुर्य हैं, वे अनूठे हैं। विस्तार-भय से अधिक न लिखकर मैं इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि 'बिरह-बिथा-जल-परस-बिन' में अलौकिक आनंददायी भाव है। कितनी बारीकबीनी और कैसी सूक्ति है? जब नायक को विरह-विथा-जल का स्पर्श ही नहीं होता, तब वह उपेक्षा करेगा ही। नायिका की विरह-व्यथा की उपेक्षा करना उसे तो साधरण-सी बात है।

अन्यान्य सभी पुराणों से महाकवि बिहारीलालजी परिचित जान पड़ते हैं। मैं यहाँ विस्तार-भय से केवल दो-एक उदाहरण और देता हूँ। देखिए—

रामायण में वर्णित श्रीसीताजी की 'अग्नि-परीक्षा' का उल्लेख करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

बसि सकोच-दस-बदन-बस, साँच दिखावत बाल,
सिय-लौं सोधति तिय तनहिं, लगनि अगनि की ज्वाल।

(बिहारी-सतसई)

राक्षस अघासुर ने जब ग्वाल-बाल समेत गायों को अपने उदर में रख लिया, तब भगवान श्रीकृष्ण ने उसका नाश कर उन्हें उसके पेट से निकाला, और उनकी रक्षा की। इसी का आश्रय लेते हुए बिहारीलालजी कहते हैं—

यों दल काढ़े बलख तैं तूँ जयसाह भुआल,
उदर-अघासुर के परे ज्यों हरि गाय-गुवाल।

(बिहारी-सतसई)

जब इंद्र की पूजा रोककर भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की पूजा कराई, तब इंद्र क्रुद्ध हो गए, और उन्होंने सात दिन-रात ब्रज पर

प्रलय के मेघों द्वारा मूसलाधार जल बरसाया। उस समय भगवान श्रीकृष्ण ने व्रज की रक्षा के लिए गोवर्धन-पर्वत को अपनी छिंगुनी पर उठाया था। उसी कथानक का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

प्रलयकरन बरसन लगे जुरि जलधर इक साथ ;
सुरपति-गर्व हरयो हरषि गिरिधर गिरिधर हाथ।
(बिहारी-सतसई)

तात्पर्य यह कि महाकवि बिहारीलालजी ने पौराणिक कथानकों का वर्णन अपने मुख्य विषय के साथ-साथ कितना कवित्व-पूर्ण किया है, यह मर्मज्ञ विद्वान ही देखें। ऐसे कवि प्रायः दुर्लभ होते हैं।

२. ज्योतिषज्ञ बिहारी

कविवर बिहारीलालजी का ज्योतिष-ज्ञान भी अपरिमित था। मैं यहाँ केवल तीन दोहे उद्धृत करता हूँ, उतने से ही हमारे पाठक संतोष करेंगे।

निम्न-लिखित दोहे में बड़े पुण्य से प्राप्त होनेवाले संक्रांति के पर्व का वर्णन रूपक में है। जब दो राशियों के मध्य में सूर्य आता है, तब संक्रांति होती है, और संक्रांति का वह अल्प समय पुण्य-काल माना जाता है। इसी बात का उल्लेख करते हुए बिहारीलाल। जी लिखते हैं—

तिय-तिथि, तरनि-किशोर वय, पुन्य-काल सम दोन ;
काहू पुन्यनु पाइययतु बैस-संधि संक्रोन।
(बहिारी-सतसई)

दूती नायक को नायिका से मिलने के उद्देश्य से कहती है—

"हे नायक, नायिका ही तिथि है, किशोर वय ही सूय है-किशोर और तरुण अवस्थाओं की संधि ही दो राशियों के मध्य का काल है। यह वय-संधि और संक्रांति दोनो समान पुण्य-काल

है। इनकी प्राप्ति किसी बड़े पुण्य-प्रताप से होती है। जो इस संक्रांति में—पर्व-काल में गंगादि तीर्थों में मज्जन करते और दान देते हैं, वे ही इस पर्व-काल में पुण्य और सुख के भागी होते हैं। अतएव तुम उस तिय-तीर्थ में वय-संधि-काल में क्रीड़ा करो, प्रेम का दान करो, और अपने पुण्य का फल भोगो; नहीं तो इस वय-संधि के पर्व-काल के व्यतीत हो जाने पर तुम पछताते रह जाओगे।"

दोहे में सविषय सावयव रूपालंकार की छटा दर्शनीय है।

जब बृहस्पति और मंगल के साथ चंद्रमा एक राशि पर आता है, तब जगद्व्यापी जल-योग होता है। 'बिंदी' का वर्णन करते हुए महाकवि बिहारीलालजी मनोहर श्लेष से परिपुष्ट रूपकालंकार बाँधते हुए इसी सिद्धांत को इस प्रकार कहते हैं—

मंगल-बिंदु-सुरंग, ससि-मुख, केशर-आड़-गुरु ;
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत।

(बिहारी-सतसई)

"सुंदरी नायिका के भाल में लगी हुई (सौभाग्य-सूचक) लाल रंग की रोरी की बिंदी मंगल है। मुख चंद्रमा है। पीतवर्ण की केशर की आड़ बृहस्पति है इन सबने एक 'नारी' (नाड़ी व स्त्री) में स्थित होकर लोचन-जगत् (संसार-रूपी नेत्रों) को रसमय (जलमय व श्रृंगाररसमय) कर दिया *।"

शास्त्रों में मंगल का लाल और बृहस्पति का पीला रंग लिखा है। 'मुख-चंद्र' ठीक ही है।

*प्राग्राशितोऽपरराशौ संक्रमणं संक्रान्तिः
(मुहूर्तचिन्तामणौ पीयूषधाराटीकायां संक्रांति प्रकरण, पृष्ठ ११२)
एकनाडीसमारूढौ चन्द्रमाधरणीसुतौ ;
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही !
(वृष्टि-प्रबोध—सप्तनाडीचक्रप्रकरण)

इस दोहे की टीका में पंडित पद्मसिंह शर्मा अपने संजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग के पृष्ठ १९९ पर लिखते हैं—

"इन सबने एक नारी (स्त्री, राशि) में इकट्ठे होकर संसार के नेत्रों को रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—"

फिर लिखते हैं—"यह सोरठा समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक का·······उत्कृष्ट उदाहरण है।"

मुझे तो शर्माजी के दोनों कथनों में वदतो व्याघात-दोष स्पष्ट दिखाई देता है। जब शर्माजी दोहे में समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक मानते हैं, तब 'लोचन-जगत' में वह रूपक गया कहाँ? मेरे विचार से शर्माजी दोहे को समझे नहीं। शर्माजी के अर्थ के अनुसार तो नायिका के 'बिंदी' लगे मुख को देखकर सब संसार—जिसमें पिता-भ्राता व मातुल आदि सभी आ जाते हैं—शृंगारमय हो जाता है, जो सर्वथा अनुचित है। बिहारीलालजी ऐसा अनुचित वर्णन कदापि नहीं कर सकते। दोहे में 'लोचन-जगत' से लोचन-रूपी जगत स्पष्ट है। इससे रूपक की पूर्णता भी नष्ट नहीं होती और वर्णन में भी अनौचित्य का आगमन नहीं होता।

जन्म-समय में यदि शनि गुरु की राशि अर्थात् धन या मीन में और स्वराशि अर्थात मकर या कुंभ में तथा उच्च राशि तुला में हो, तो इस सुग्लन में जन्म लेनेवाला मनुष्य नृपति होता है*।

*गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नृपतिसदृशो ग्रामपुरपः
सुविद्वांश्चावंगो ...* ... ...
(बृहज्जातक— वराहमिहिराचार्य)

तथा—
स्वोच्चस्वकीयभवने क्षितिपालतुल्यो
लग्नेऽर्कजे भवति देशपुराधिनाथः।
प्रसूतिकाले नलिनीशसूनुः स्वोच्चत्रिकोणस्वगतो विलग्ने;
कुर्यान्नरं देशपुराधिनाथं
(जातकाभरणम्—शनि-भावफलम्)

इस सिद्धांत का आश्रय लेकर कविवर बिहारीलालजी कहते हैं—

सनि कज्जल, चख झख लगनि, उपज्यौ सुदिन सनेह ;
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लगि सुदेश सब देह।
(बिहारी-सतसई)

"आँख का काजल शनि है, 'चख' (चक्षु) मीन लग्न है, ऐसे सुयोग में जिसका जन्म हुआ है, वह स्नेह (बालक) सर्व शरीर-रूपी देश पर अधिकार जमाकर क्यों न राज्य करेगा।" ज्योतिष के फलादेश में किसे संदेह हो सकता है ?

३. नीतिज्ञ बिहारी

(१) जिन्होंने संसार का इतिहास पढ़ा है, वे इस बात को भली भाँति जानते हैं कि जब प्रजा पर दुहरे शासकों का शासन होता है, तब वह अशांति का क्रीड़ा-स्थल बन जाती है। उसके दुःखों की बेतरह बढ़ती होती है। उसकी पीड़ा पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। यह बात अमावस्या के अंधकार का दृष्टांत देते हुए बिहारी-लालजी ने बड़े ही मार्मिक ढंग से कही है। सूर्य और चंद्र के एक राशि पर आने से अमावस्या के दिन घोर अंधकार छा जाता है, इसी प्रकार एक ही देश पर दो राजाओं का या दुहरा शासन होने से प्रजा पर आपत्ति के बादल छा जाते हैं। कितने पते की बात और वह भी कितने निराले ढंग से कही है। यह देखिए—

दुसह दुराज प्रजानि कों क्यों न बढ़ै दुख-दंद ;
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रबि-चंद।
(बिहारी-सतसई)

(२) श्रुति-स्मृति और नीतिज्ञ लोगों का यही कहना है कि राजा, पातक और रोग निर्बल को ही दबाते हैं। निर्बल जाति को राजा, निर्बल शरीर को रोग और निर्बल आत्मा के लोगों को पाप दबाते ही हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। जो राष्ट्र या जो जाति

बल-संपन्न है, उससे शासक भय खाता है; अतएव यदि किसी जाति को शासक के अत्याचारों से मुक्त होना है, शासक के अनुचित दबाव को उठा देना है, तो पहले उसे बल-संपन्न होना चाहिए। बिना बल-संपन्न हुए उसका निस्तार नहीं। इसी प्रकार निर्बल शरीर को रोग दबाते हैं। कहावत प्रसिद्ध है—"हीन देखकर रोग दबाते हैं।" निर्बल आत्मा के लोगों को पाप अपने वशीभूत करता है, अर्थात् दुर्बल-हृदय होने से उनमें मानसिक बल नहीं होता; अतएव वे जब चाहें, तब पाप करने को तैयार हो जाते हैं। इसी सिद्धांत को, इसी गहन सिद्धांत को, महाकवि बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे में देखिए—

इहै कहैं स्रुति-सुमृति औ' यहै सयाने लोग ;
तीन दबावत निसक हीं राजा पातक रोग।

(बिहारी-सतसई)

(३) राजनीति-प्रवीण योग्य शासक का यह कर्तव्य-कर्म है कि वह अपने ही पक्ष के लोगों की बढ़ती करे—अपने पक्ष के लोगों की मान-मर्यादा बढ़ावे। संसार के सभी योग्य शासक ऐसा ही करते हैं। राजनीति का यह एक बड़े काम का सिद्धांत है। जिस शासक के पक्ष के लोग अधिक रहेंगे, उसी का शासन सुदृढ़ रहेगा. और वही अच्छा शासक कहलावेगा। साथ-साथ अन्य निकटवर्ती शासक भी उसे बलवान समझेंगे, एवं उसका राज्य सुदृढ़ और संगठित होगा। शासन की बागडोर उसी के हाथ में रहेगी। संसार में जिसका पक्ष अधिक है, जिसकी बहुसंख्या है, वही बली है। राजनीति के इस गहन सिद्धांत को कविवर बिहारीलालजी किस विदग्धता से काव्य के साँचे में ढालकर कहते। यह देखिए—

अपन अंग के जानिकैं जोबन-नृपति प्रबीन ,
स्तन,मन,नयन,नितंब को बड़ो इजाफा कीन।

(बिहारी-सतसई)

"यौवन-नृपति ने अपने पक्ष के जानकर (तरुणी के) स्तन, मन, नयन और नितंब को बड़ी तरक्की दी, उनकी अधिक मर्यादा बढ़ाई।"

(४) जब कोई सुदूरस्थ शासक किसी दूरवर्ती देश का शासन करने के लिये अपने किसी राजभक्त, विश्वासपात्र हाकिम या गवर्नर को भेजता है, तब वह गवर्नर उस सुदूरवर्ती देश में जाकर उस देश के बल को घटाने और अपना राज्य दृढ़ रखने के लिये अपने बुद्धि-बल से अथवा अपनी राजनीति-प्रवीणता के बल से उस देश की बढ़ी हुई संगठित शक्ति को घटाकर बल-हीन बना देता है, और दिखावा-स्वरूप किसी घटी हुई निर्बल शक्ति को बढ़ा देता है। यही उस हाकिम या गवर्नर का कर्तव्य होता है। यदि वह इस कर्तव्य का पालन कर सकता है, तो वह गवर्नर योग्य और प्रवीण समझा जाता है, और उसकी हुकूमत का समय सफल समझा जाता है। प्रवीण राजनीतिज्ञ पुरुष इस विषय को भली भाँति जानते हैं। इस संपूर्ण विषय को मुग्धा नायिका के अवयवों की बढ़ती दिखलाते हुए छोटे-से दोहा-छंद में कह जाना बिहारीलालजी-सदृश महाकवि का ही काम है। देखिए—

नव-नागरि-तन-मुलक लहि, जोबन आमिल जोर ;
घट बढ़तैं बढ़ घट करी रकम और की और।
(बिहारी-सतसई)

(५) यदि दुष्ट स्वभाववाला मनुष्य अत्यंत नम्रता या विनय भी दिखलावे, तो भी उसका विश्वास कभी न करना चाहिए। इस बात का उपदेश देते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

न ए बिससिए अति नए दुरजन दुसह सुभाय ;
आँटे पर प्रानन हरत काँटे लौं लगि पाय।
(बिहारी-सतसई)

महात्मा तुलसीदासजी भी इसी सिद्धांत को इस प्रकार लिखते हैं-

नमन नीच की अति दुखदाई ;
जिमि अंकुस, धनु, उरग, बिलाई ।
(रामायण)

(६) छोटे हृदयवाले तुच्छ मनुष्य महापुरुषों के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता पहुँचाने में सदैव असमर्थ हैं। छोटों से बड़े काम कभी संपादित नहीं हो सकते। कहीं चूहे के चमड़े से भी ढोल मढ़ा जा सकता है—

कैसे छोटे नरन तें सरत बड़न के काम ;
मढ़्यो दमामा जात क्यों लै चूहे को चाम ।
(बिहारी-सतसई)

(७) इस संसार में उसी का आदर होता है, जिसके शरीर में बुराई का वास होता है, अर्थात जिससे अनिष्ट की आशंका रहती है, लोग उससे डरते हैं, इसी कारण उसका आदर करते हैं। उत्तम ग्रह जैसे बृहस्पति आदि के लिये कोई जप नहीं कराता—दान नहीं देता, परंतु राहु और शनि-सदृश कुग्रहों के लिए लोग जप कराते हैं, दान देते हैं; क्योंकि उनसे अनिष्ट की आशंका रहती है। महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

बसै बुराई जासु तन ताही को सनमान ;
भलो भलो कह छाँड़िए खोटे ग्रह जप-दान ।
(बिहारी-सतसई)

(८) यदि बुरे स्वभाववाला पुरुष बुराई छोड़ दे, तो मन अत्यंत संकित होता है, क्योंकि उसका बुराई छोड़ देना किसी प्रकार का

भारी अनिष्ट करता है। उसका बुराई छोड़ना उसी प्रकार हानि-कारक समझना चाहिए, जिस प्रकार चंद्रमा को कलंक-रहित देखकर संसार किसी भारी अनिष्ट का आगमन समझता है। समर्थ कवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

बुरौ बुराई जो तजै, तौ मन खरो सकात ;
ज्यों निकलंक मयंक लखि गनैं लोक उतपात।
(बिहारी-सतसई)

(९) मनुष्य की और नाले के पानी की एक-सी गति समझना चाहिये। वह जितना नीचा होकर चले, उतना ऊँचा होता है। नाले का पानी जितना नीचा होकर बहता है, उतना ही गहराई लिये होता है—उतना ही ऊँचा होता है। इसी प्रकार मनुष्य जितना नम्र और विनय-शील होता है, उतना ही उच्च अर्थात् गंभीर अतएव सम्माननीय होता है। महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

नर की अरु नल-नीर की एकै गति करि जोइ ;
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ।
(बिहारी-सतसई)

इसी सिद्धांत को लक्ष्य करके गुरु नानक कहते हैं—

नानक नन्हें ह्वै चलो, जैसे नन्ही दूब ;
घास-फूस जर जाइगो, दूब रहैगी खूब।

(१०) किसी कारण-वश यदि तुच्छ पुरुषों को सम्मान दिया जाय, तो क्या हुआ, वे सदैव आदरणीय कभी नहीं हो सकते। इस सिद्धांत को हृदयग्राही अन्योक्ति का आश्रय लेकर समर्थ कवि बिहारीलालजी कहते हैं—

दिन दस आदर पायकै कर लै आपु बखान ;
जौ लगि काग सराध-पख, तौ लगि तुव सनमान।
(बिहारी-सतसई)

"हे काग! दस-पाँच दिन के लिये आदर प्राप्त कर तू अपनी प्रशंसा गा ले। तेरा सम्मान तभी तक है, जब तक श्राद्ध-पक्ष है। श्राद्ध-पक्ष के निकल जाने पर-व्यतीत हो जाने पर—कोई तेरी बात भी न पूछेगा।" कैसी हृदयहारी अन्योक्ति कही है।

(११) यदि दामाद (जमाई) श्वशुर-गृह में श्वशुर के आश्रित होकर रहने लगे, तो उसका मान घट जाता है। न तो आते समय ही उसे कोई जानता है, और न जाते समय। बड़ा विकट अनादर हो जाता है। क्योंकि वह अपना तेज खो बैठता है। जब तक तेज है, तभी तक आदर है, बड़प्पन है, पूछ है। तेजवान पुरुष के आते-जाते समय लोग उसे आदर देते हैं, राम-रहीम करते हैं परंतु श्वशुर के आश्रित तेज-हीन जमाई का कुछ भी आदर नहीं रहता, वह पूस के दिन के समान आता-जाता है। जिस प्रकार पूस का दिन-मान बहुत घट जाता है, उसी प्रकार उस जमाई का मान बहुत घट जाता है। समर्थ महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

आवत-जात न जानिए तजि तेजहिं सियरान ;
घरहि-जमाई लौं घट्यो खरो पूस - दिन-मान।
(बिहारी-सतसई)

कोई संस्कृत-कवि कहता है—

अधमाः मातुलाख्याताः श्वशुराश्चाधमाधमा।
(बिहारी-सतसई)

अब विस्तार-भय से मैं अन्य उदाहरण देने में असमर्थ हूँ। विवेचक विद्वान उन्हें सतसई में स्वयं देखें। बिहारीलालजी का एक अपूर्व सिद्धांत और लिखता हूँ—

अपत भए बिन पायहै क्यों नव दल-फल-फूल ?
(बिहारी-सतसई)

जब तक आपत्ति नहीं भोगोगे, तब तक सौख्य और उन्नति की

प्राप्ति हो ही नहीं सकती। कितनी संगत बात है, एवं कैसा उत्कट उपदेश है। जब तक बीज मिट्टी में नहीं मिल जाता, तब तक अंकुर नहीं निकलता और न वह एक से पचास होकर अपनी उन्नति कर पाता है। उन्नति के लिए कष्ट उठाने की आवश्यकता है। चाहे जातीय उन्नति हो, चाहे देशोन्नति, चाहे आत्मोन्नति। प्रत्येक प्रकार की उन्नति के लिये 'अपत' होकर कष्ट भोगने की आवश्यकता है। बिना स्वर्थ-त्याग किये सच्ची उन्नति असंभव है। तुच्छ स्वार्थों के बलिदान से ही उन्नति की देवी प्रसन्न होती है।

४. आयुर्वेदज्ञ बिहारी

(१) यह बिनसत नग राखिकैं जगत बड़ो जस लेहु ;
जरी बिषमजुर ज्याइए, आय सुदरसन देहु।
(बिहारी-सतसई)

"इस नाश को प्राप्त होनेवाले 'नग' (नारी-रत्न) की रक्षा करके जगत में बड़ा यश प्राप्त करो। वह (विरह) विषमज्वर में जल रही है उसे सुदर्शन (सुंदर दर्शन और सुदर्शन-चूर्ण) देकर जीवित रक्खो।"

इस दोहे में 'सुदरसन' और 'विषमजुर' श्लिष्ट पद हैं। विषम-ज्वर पर सुदर्शन-चूर्ण का प्रयोग लिखकर कवि ने अपने आयुर्वैदिक ज्ञान का परिचय दिया है। आयुर्वेद के ग्रंथों में विषमज्वर पर सुदर्शन का प्रयोग अत्यंत प्रसिद्ध है। देखिए—

सुदर्शनं नाम मरुद्बलासा-
मयोद्भवान्हन्ति पृथक्कृताज्ज्वरान्;
सुदर्शनं दानवनाशनं यथा
सुदर्शनं रोगविनाशनं तथा।
(भेड़संहिता)

एतत्सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम्;
ज्वरांश्च निखिलान्हन्यान्नात्र कार्या विचारणा।

तथा—

ज्वराणां वै तु सर्वेषामिदं चूर्णं प्रणाशनम् ।
(शार्ंगधर संहिता)

(२) वैद्य—वैद्य को नाड़ी-ज्ञान, नाड़ी-ज्ञान से रोग का निदान और रोग के निदान पर औषिधि का प्रयोग— इसके सिवा वैद्यक में और है ही क्या ? इसी बात को स्पष्ट करते हुए महाकवि बिहारीलालजी ने यह सोरठा कहा है।

मैं लखि नारी-ज्ञान करि राख्यो निरधार यह ;
वहई रोग - निदान. वैद्य वहै, औषधि वहै ।
(बिहारी-सतसई)

पूर्वानुरागिणी नायिका की विरह-वेदना बढ़ गई है। वह भेद छिपाती है। तब कोई अंतरंगिणी सखी उससे कहती है—

"मैंने नारी-ज्ञान (नाडी-ज्ञान, नारी-ज्ञान अर्थात स्त्रियों की चेष्टादि से उनका हाल जानना) देखकर यह निश्चय कर रक्खा है कि तुम्हारे रोग का कारण वही है, तेरी औषधि वही है और तुम्हारा वैद्य वही है (जिससे तू प्रेम करती है)।"

५ दार्शनिक बिहारी

(१) कटि के संबंध में सुकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराए :
सूछम कटि परब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाय ।
(बिहारी-सतसई)

बुद्धि से अनुमान-प्रमाण द्वारा और श्रुति (वेद, श्रवण) से शब्द-प्रमाण द्वारा ब्रह्म के समान कटि का निश्चय होता है। उसे प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा या उपमान-प्रमाण द्वारा जान ही नहीं सकते, क्योंकि वह सूक्ष्म तथा अलख है, अतएव अगोचर है। स्थूल दृष्टि से नेत्रों द्वारा हम उसे देख ही नहीं सकते। तात्पर्य यह कि जिस

प्रकार श्रुति अर्थात वेद के प्रमाण द्वारा हम ब्रह्म के विषय में सुनते हैं कि—"सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म तथा "सत्य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मेति" और "अयमात्मा ब्रह्म" जानकर ब्रह्म को आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" श्रुति के अनुसार उसका ध्यानादि करने लगते हैं, उसी प्रकार श्रुति अर्थात कानों से शब्द-प्रमाण द्वारा सुनते हैं कि कमर है, और कमर के बारे में विचार करते हैं। फिर अनुमान-प्रमाण द्वारा यथार्थ वस्तु की विवेचना करने के लिए—"जनमाद्यस्य यतः" आदि श्रुति के अनुसार अनुमान करते हैं कि यदि ब्रह्म नहीं है, तो इस अखिल जगत की सृष्टि कैसे हुई ? इस कोट्यानुकोट ग्रह, नक्षत्र मंडल-मंडित ब्रह्मांड का आश्रय क्या है ? कौन है ? और फिर इन प्रश्नों के उत्तर में बुद्धि से अनुमान करते हैं कि ब्रह्मांड का बनाने-वाला, ब्रह्मांड का आश्रय ब्रह्म अवश्य ही है. और उसी के आश्रित सपूर्ण चराचरमय विश्व है । जिसका प्रब्रह्म के विषय में अनुमान करते हैं, उसी प्रकार कटि के विषय में अनुमान करते हैं कि यदि कटि नहीं है—आश्रय नहीं है—तो फिर इस शरीर के कटि से ऊपर का भाग जिसमें छाती, बाहु, ग्रीवा, मुख और सिर आदि हैं—किसके आश्रित है ? शरीर के इस भाग का आश्रय क्या है ? फिर भी वह ब्रह्म के समान अलख है--अप्रत्यक्ष है---अगोचर है। वह देखी नहीं जा सकती। ब्रह्म का—कटि का—साक्षात्कार हो ही नहीं सकता उसका अस्तित्व भी कठिनता से ध्यान में आता है।

नैयायिकों ने—"प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शाब्दश्चेति" अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द, ये चार प्रकार के प्रमाण माने हैं। इसी बात को लक्ष्य में रखकर न्याय-शास्त्र के वेत्ता दार्शनिक बिहारीलालजी लिखते हैं—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराइ ।

अर्थात् शाब्द (श्रुति-प्रमाण) और बुद्धि (अनुमान-प्रमाण) द्वारा कटि-ब्रह्म के अस्तित्व के विषय में निश्चय करते हैं। क्योंकि—

सूछम कटि परब्रह्म-लौं अलख लखी नहिं जाइ।

इससे प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा उसे जान ही नहीं सकते। अब रहा उपमान-प्रमाण, सो ब्रह्म अनुपम है, कटि भी अनुपम है, उसे किसी वस्तु की उपमा दी ही नहीं जा सकती। उस उपमेय का कोई उपमान ध्यान में आता ही नहीं, अतएव उपमान-प्रमाण से भी उसे— कटि को तथा ब्रह्म को—जान ही नहीं सकते। पाठक ध्यान से देखें कि दर्शन-शास्त्र का निचोड़ बिहारीलालजी ने किस प्रकार नायिका की कटि का वर्णन करते हुए, एक छोटे-से दोहा-छंद में कहा है। मैं कहता हूँ कि हिंदी का सौभाग्य है कि हिंदी में बिहारीलालजी कवि हुए। दोहे में अतिशयोक्ति-गर्भित उपमा की जितनी बहार है, उतना ही श्लेष का चमत्कार है। ऐसी अनूठि रचना करना बिहारीलालजी का ही काम है।

इसी ढंग का वर्णन महाकवि श्रीहर्ष ने 'नैपधीय चरित महाकाव्य' के दशम सर्ग के ८७ वें श्लोक में किया है। यद्यपि महाकवि बिहारीलालजी और इनके वर्णनों में विभिन्नता है पर रसिक काव्य-प्रेमी सज्जनों के अवलोकनार्थ मैं उसे यहाँ देता हूँ। देखिए, कैसी सूझ है—

या सोमसिद्धान्तमयाननेव
शून्यात्मतावादमयोदरेव ;
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव
साकारतासिद्धिमयाखिलेव।

जिसका मुख-चंद्र कापालिक दर्शन (कपिलदेवजी के सांख्य दर्शन) के समान सुस्पष्ट और दुःख-तम-नाशक है, जिसका उदर-देश बौद्धादि मध्यामिक लोगों के ('शून्यं शून्यमिदं जगत्'

तथा 'आत्मानो न सन्तीति') सिद्धांत के अनुसार अत्यंत कृशता लिए हुए है, जिसका हृदय निराकारवादी विज्ञान-वेत्ताओं के समान 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के सिद्धांतानुसार 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' अर्थात् सर्व प्राणियों से दया और प्रेम-पूर्ण उदार भाव रखनेवाला है, और जिसका समस्त सुंदर स्वरूप सौत्रांतिक साकार विज्ञान-वादियों की साकारता-सिद्धि के समान आनंददायी है। इस पद्य में देखिए श्रीहर्षजी चंद्रानना, अति कृशोदरी, प्रेमशीला, उदार-हृदया और अति सुंदरी दमयंती के स्वरूप का वर्णन उत्प्रेक्षालंकार के सहारे कितने अनूठे ढंग से कर गए हैं। ऐसी रचना करनेवाले ही यथार्थ में महाकवि के आसन के योग्य हैं---

(२) इस दृश्यमान प्रपंच के विषय में वेदांत-केसरी स्वामी विद्यारण्यजी महाराज सुप्रसिद्ध प्रमाणिक वेदांत-ग्रंथ पंचदर्शी में लिखते हैं---

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्;
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।

अर्थात्---अस्ति (सत्ता), भाति (प्रकाश), प्रियं (प्रेमास्पदता), नाम और अकार---ये पाँच अंश इस 'प्रपंच' में हैं। इनमें से तीन अर्थात् सत्ता, और प्रकाश और प्रेमास्पदता ब्रह्म का रूप है, और नष्ट हो जानेवाले अतएव असत्य नाम और रूप (आकार) जगत का स्वरूप है।

विचारकर देखने से विदित होता है कि सत्ता, प्रकाश और प्रेमस्पदता से भिन्न जो नाम-रूपमय जगत है, वह सत्य नहीं है, मिथ्या है। जो वस्तु जिसमें कल्पित हो, वह वस्तु उससे भिन्न नहीं है, इससे ब्रह्म से जगत का वास्तव में अभेद है, अतएव ब्रह्म से जगत् की भिन्न सत्ता नहीं है। कनक (स्वर्ण) में कुंडल की प्रतीति के दृष्टांत से ब्रह्म से भिन्न जगत की सत्यता की भ्रांति की

निवृत्ति होती है। जिस प्रकार नाम और रूप (आकार) वाला कुंडल स्वर्ण से भिन्न नहीं है, किंतु स्वर्ण ही है, उसी प्रकार यह संपूर्ण चराचरमय विश्व-प्रपंच ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किंतु ब्रह्म ही है। नाम और रूपमय जो जगत का यथार्थ स्वरूप है, सो मिथ्या है, अतएव जगत मिथ्या है। श्रुति कहती है—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ;
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।

और—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
व्यापी सर्वसर्वभूतान्तरात्मा;
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

वास्तव में ब्रह्म से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है। इसी को वेद भगवान् का मंत्र-भाग इस प्रकार कहता है—

पुरुष एवेदंग संर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
(यजु० अध्याय ३१, मं० २)

अर्थात् जो कुछ उत्पन्न हुआ है, और होनेवाला है, वह ब्रह्म ही है।

तथा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ;
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।
(यजु० अध्याय ३२, मं० १)

अर्थात वही ब्रह्म अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चंद्रमा है, वही शुक्र है, वही जल है, और वही प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसके सिवा और कुछ है ही नहीं।

श्रीमद्भगवद्‌गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने गांडीवधारी अर्जुन से यही सिद्धांत इस प्रकार कहा है—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ;
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ,
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ७)

भावार्थ — हे अर्जुन, यह समझ ले कि मुझसे ही सर्व जगत को उत्पत्ति होती है और मुझमें ही संपूर्ण चराचरमय विश्व का लय हो जाता है। हे धनंजय, मुझसे परे और कुछ भी नहीं है— कोई भी नहीं है। मुझ परब्रह्म में ही यह संपूर्ण दृश्यमान प्रपंच पिरोया हुआ है, जैसे तागे में मोतियों के गुच्छे। अस्तु।

इसी गहन सिद्धांत को दार्शनिक बिहारीलालजी ने अपने दोहे में प्रतिबिंब-वाद का आश्रय लेकर व्यक्त किया है। अन्यान्य वादों के समान वेदांत-शास्त्र में प्रतिबिंब-वाद की भी प्रमुखता है। इसी प्रतिबिंव-वाद का आश्रय लेकर स्वामी विद्यारण्यजी महाराज ने लिखा है —

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता
तमो रजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ।
(पंचदशी तत्त्व-विवेक-प्रकरणम् , श्लोक सं० १५)

अर्थात् चिदानंद रूप ब्रह्म के प्रतिबिंब से समन्वित सत्त्व, रज एवं तम तीनो गुणों को जिसमें साम्यावस्था है, वह प्रकृति दो प्रकार की है। अस्तु।

वेदांत- शास्त्र के वेत्ता महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

मैं समुझ्यो निरधार यह जग काँचो काँच-सो ;
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत यहाँ ।
(बिहारी-सतसई)

मैं विचार करके इस निर्णय पर आया हूँ कि यह दृश्यमान

जगत् काँच के शीशे की तरह कच्चा है। जिस प्रकार एक ही जोर की ठेस लगने से काँच का शीशा चूर-चूर हो जाता है, अपना अस्तित्व खो देता है, उसी प्रकार यह संसार- रूपी काँच का शीशा भी ज्ञान की जबर्दस्त ठेस के लगते ही चूर-चूर हो जाता है, अपना अस्तित्व खो देता है, अतएव कच्चा है—मिथ्या है—माया-मरीचिका है। क्योंकि सत् का नाश होता ही नहीं। जिस प्रकार काँच के प्रतिबिंब-ग्राही होने से काँच के महल (शीश-महल) में एक ही व्यक्ति के अनेक प्रतिबिंब अनेक रूपों में (कोई छोटा, कोई बड़ा आदि) दिखाई देते हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म के अनेक प्रतिबिंब इस दृश्यमान जगत् में दिखाई देते हैं—भासमान होते हैं। अनेक प्रतिबिंब दिखाई देने का कारण—अनेक भावों की पार्थक्य-प्रतीति का कारण—नाम और रूप मिथ्या है—असत् है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः

अर्थात् न तो असत् की सत्ता (भाव) है, और न सत् का अभाव (नाश) है।

पाठक देखें, कितना शुद्ध और स्पष्ट वर्णन है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' एवं 'नेह ना नास्ति किंचन' का कैसा अच्छा स्पष्टीकरण है। दृष्टांतालंकार का—प्रतिबिंब-वाद का ऐसा वर्णन करना दार्शनिक महाकवि बिहारीलालजी का ही काम है।

शांति के उपासक बिहारीलालजी भिन्न-भिन्न धर्मों (संप्रदायों) के झगड़े को देखकर— संसार में धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचार को देखकर दयार्द्र होकर—भिन्न-भिन्न धर्मों (संप्रदायों) के लोगों को लक्ष्य करके कहते हैं—

अपने-अपने मत लगे बादि मचावत सोर ;
ज्यों-त्यों सबको सेवनें एकै नंदकिसोर।
(बिहारी-सतसई)

भिन्न-भिन्न धर्मों (मतों, संप्रदायों) के अंध-भक्तों ने धर्मांधता के वश होकर इस शांति और सौख्य-पूर्ण संसार में भयानक कोलाहल मचा दिया है—संसार को अशांति का क्रीड़ा-स्थल बना दिया है। यथार्थ में किसी-न-किसी रूप में सभी को उस एक परमात्मा—उस एक श्रीकृष्ण प्रभु—की उपासना करना है, सबका ध्येय एक परब्रह्म की उपासना का ही है। फिर यह कोलाहल क्यों? संसार में धर्म के नाम पर यह अत्याचार क्यों? यह सब अनुचित है, एक परमात्मा के उपासकों को भिन्न-भिन्न संप्रदायों या धर्मों का विचार न करके एक हो जाना चाहिए। उन साथी मुसाफिरों—पथिकों—को, जो उनके समान ही परमात्मा के पास पहुँचने के इच्छुक होने के कारण एक ही पथ के पथिक हैं, सहायता देना चाहिए।

देखिए, कैसी उत्कट, उपदेश-पूर्ण, उदार, भावमयी, उत्कृष्ट उक्ति है। इसी सिद्धांतवाला यह संस्कृत-श्लोक भी है।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ;
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

अर्थात् जिस प्रकार आकाश से गिरा हुआ (वर्षा का) जल नदियों-नालों आदि में होता हुआ समुद्र की ओर चला जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं को की हुई नमस्कार भी उसी एक परमात्मा केशव (कृष्ण) के प्रति पहुँच जाती है। अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करना भी उसी अच्युत परब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासना करना है।

यही भाव निम्न-लिखित श्लोकद्वय में भी है।

अनन्तनामधेयाय सर्वाकारविधायिने ;
समस्तमंत्रवाच्याय विश्वैकपतये नमः।
यथा तथापि यः पूज्यो यत्र तत्रापि योर्चितः ;
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोस्तु ते।

विस्तार-भय से ऐसी-ऐसी अन्य सूक्तियाँ उद्धृत करने में असमर्थ हूँ। यहाँ केवल यही कह देना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त दोहे से बिहारीलालजी के धार्मिक भावों की उदारता दर्शित होती है। दार्शनिक विद्वान उदार होते ही हैं। दार्शनिक विद्वान होने से महाकवि बिहारीलालजी में प्रशंसनीय धार्मिक उदारता थी, यह निर्विवाद सिद्ध करने के लिये उपर्युक्त दोहा प्रबल प्रमाण है।

६. भक्त बिहारी

जिस प्रकार बिहारीलालजी दार्शनिक तत्त्वों के जाननेवाले थे, उसी प्रकार भक्ति-पथ के पथिक भी थे। देखिए—

भक्तप्रवर बिहारीलालजी कहते हैं—

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख-हजार ;
मो संपति जदुपति सदा बिपति बिदारनहार।

(बिहारी-सतसई)

कोई करोड़ों, कोई लाखों और कोई हजारों की संपत्ति संग्रह करो, अपने राम को इससे क्या ? यदि यह कहो कि भाई नीति के अनुसार—'आपदर्थे धनं रक्षेत्' अर्थात् आपत्ति-काल के लिए धन की रक्षा करना चाहिए, तो भाई मेरे पास मेरी संपत्ति यदुपति भगवान श्रीकृष्ण हैं, जो सदैव विपत्तियों के नाश करनेवाले हैं अतएव मुझे व्यर्थ धन जोड़ने से क्या लाभ ? फिर धन से तो सर्व प्रकार की विपत्तियों का नाश नहीं होता; परंतु भगवान श्रीकृष्ण तो सर्व प्रकार की विपत्तियों का नाश करनेवाले हैं। अतएव यदुपति-रूपी संपत्ति ही मुझे अधिक प्रिय है, क्योंकि वही विपत्तिहारी और यथार्थ संपत्ति है।

भवसागर से पार होने के उपाय का वर्णन करते हुए भक्त बिहारीलालजी कहते हैं—

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाव ;
तरि संसार-पयोधि को हरि-नामै करि नाव।
(बिहारी-सतसई)

हरि-नाम की नाव बना, और जप-माला की पतवार पकड़कर इस दुःख-शोकमय संसार-समुद्र को पार कर। इस संसार-सागर को पार करने का अन्य कोई उपाय है ही नहीं। कैसा अनूठा रूपक और कैसा गहन तत्त्व है।

इसी सिद्धांत को हिंदी-कवि-कुल-कलाधर महात्मा तुलसीदासजी ने व्यक्त करते हुए लिखा है—

बारि मथे बरु होय घृत, सिकता तैं बरु तेल ;
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल।
(रामायण उत्तरकांड)

कपटी मन में ईश्वर का वास नहीं रहता, इसका वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहि बाट
निपट बिकट जब लगि जुटे खुलहिं न कपट-कपाट।
(बिहारी-सतसई)

जब तक कपट के विकट कपाट जुटे हैं (मन निष्कपट नहीं हुआ है), तब तक इस मन-मंदिर में हरि (श्रीकृष्ण) किस बाट (मार्ग) से आवें। पहले किवाड़ खोलो, तब अथिति भीतर आवेगा। पहले मन-मंदिर से कपट को हटा दो—दूर कर दो--तब परमात्मा उसमें आवेगा।

बिहारीलालजी का मत है कि यदि ईश्वर से सच्चा अनुराग न हो तो लंबे तिलक, छापे, माला या जप से कोई लाभ नहीं। लिखते हैं--

जप माला छापे तिलक सरै न एकौ काम ;
मन काँचे नाचे बृथा साँचे राँचे राम।
(बिहारी-सतसई)

जब तक मन कच्चा है, विषयासक्त है, तब तक जप, माला, तिलक और छाप से क्या होता है ? राम (ईश्वर) केवल सच्चे मन से प्राप्त किए जा सकते हैं; क्योंकि वह तो मन की सचाई पर ही रीझते हैं। अतएव भक्ति करने के पूर्व मन को विषयों से हटाना चाहिए, उसमें ईश्वर से सच्चा अनुराग उत्पन्न करना चाहिए, क्योंकि जो कुछ होता है, मन से होता है, ईश्वर बाह्याडंबर से प्रसन्न होनेवाले नहीं। कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मनुष्यों के बंधन में पड़ने और मुक्त होने का कारण मन ही है, अतएव पहले मन को ही सत्य की ओर झुकाना चाहिए। विषयों से हटाकर दृढ़ बनाना चाहिए। यदि मन विषय-वासना से हट गया, सत्य की ओर अग्रसर हो गया, तो ईश्वर की सच्ची भक्ति प्राप्त होने में विलंब ही न रहा।

भक्त बिहारीलालजी अनेक अवगुणों की मूल द्रव्य की निंदा करते हुए कहते हैं—

तौ अनेक अवगुन-भरी चाहै याहि बलाय ;
जो पत संपत हू बिना जदुपत राखै आय।
(बिहारी-सतसई)

"जो यदुपति भगवान श्रीकृष्ण बिना सपत्ति के ही आकर (मेरी) पत(लाज)रख लें, तो अनेक अवगुणों की मूल इस द्रव्य को मेरी बलाय चाहती है, अर्थात् मैं इससे घृणा करता हूँ।'

इसी भाव को कविवर खानखाना नवाब अब्दुलरहीम इस प्रकार कहते हैं—

दिव्य दीनता के रसहिं का जाने जग-अंधु ;
भली बिचारी दीनता दीनबंधु - से बंधु ।

(जो अपने किसी नीच स्वार्थ की पूर्ति के लिये न दिखलाई जाय, उस) दिव्य दीनता के अलौकिक आनंद को यह माया-मोह में पड़ा हुआ अंधा संसार क्या जाने। बेचारी दीनता धन-संपत्ति से अच्छी है, क्योंकि धन-संपत्ति में तो केवल स्वार्थी तुच्छ मनुष्य ही सहायक होते हैं, परन्तु इस (दिव्य) दीनता में दीनबंधु ईश्वर-सदृश सर्वशक्तिमान बंधु मिलता है। बात वही है, पर ढंग निराला है। मुझे रहीम का दोहा बिहारीलालजी के दोहे से कुछ उठता हुआ दिखाई देता है।

कविवर बिहारीलालजी की भक्ति-विषयक सूक्तियाँ भक्ति-भाव में कितनी श्रेष्ठ हैं, इसका दिग्दर्शन कराने के लिये मैं हिन्दी-साहित्य सूर्य, भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदासजी की उसी विषय की-ओर वैसे ही भावोंवाली सूक्तियों से तुलना करना उपयुक्त समझता हूँ। इससे हमारे पाठकों को यह विदित हो जायगा कि बिहारीलालजी किस श्रेणी के भक्त थे और भक्ति का भाव भी उनके हृदय में किस प्रकार उठता था। ध्यान रहे, भक्ति-भाव में सूर की सूक्तियों की समता की सूक्ति लिखना बड़े ही जीवट का काम है। इसके लिये कविवर बिहारीलालजी की जितनी प्रशंसा करें, थोड़ी है। अस्तु, विस्तार-भय से मैं यहाँ केवल तीन समान सूक्तियाँ देता हूँ। देखिए, निम्न-लिखित वर्णन में भक्ति का प्रवाह दोनों भक्त कवियों ने किस अनूठे ढंग से बहाया है—

हरि हौं सब पतितन को राव ।
को करि सकै बराबरि मेरी सोधौं मोहिं बताव ।
ब्याध गीध अरु पतित पूतना तिनमें बढ़ि जो और ;
तिनमें अजामील गनिका अति उनमें मैं सिर-मौर ।

जहँ-तहँ सुनियत यहै बड़ाई मो समान नहिं आन ;
अब जो आजु-काल्ह के राजा तिनमें मैं सुलतान ।
अब लौं तो तुम बिरद बुलायो भई न मोसों भेंट ;
तजौ बिरद क मोहिं उबारो 'सूर' गही कसि फेंट ।
(श्रीसूरदासजी)

कौन भाँति रहिहै बिरद अब देखिबी मुरारि
बीधे मोसों आइक, गीधे गीधहिं तार ।
(बिहारी-सतसई)

न दोनों वर्णनों को देखकर 'को बड़ छोट कहत अपरा ' का स्मरण हो आता है । दोनों ने भक्ति के आवेश में ऐसी व्यंग्य-पूर्ण और अनूठी बात कह डाली है, जो अद्वितीय है । दोनों के कथन के ढंग मेंतीखापन है । सूरदासजी "हरि हौं सब पतितन को राव...."से लेकर..........."तिनमें मैं सुलतान" तक घुमा-फिराकर कई पतितों के नाम गिनाकर अपने को सबसे बड़ा पतित कहते हैं । यदि एक बार 'राव' बनते हैं, तो दूसरी बार 'सुलतान' बनते हैं । फिर अपने भगवान से कहते हैं—"अब लौं तो तुम बिरद बुलायो भई न मोसों भेंट" । इतने सब वर्णन को– इतने बड़े झमेले को— बिहारीलालजी 'बीधे मोसों आइकैं गीधे गीधेहिं तार' में पूर कर देते हैं । सूरदासजी जहाँ अभिधा से काम लेते हैं, वहाँ बिहारीलालजी व्यंजैना से । उन्हें अपने को 'पतितन को राव' और फिर 'सुलतान' कहने की कोई आवश्यकता ही नही पड़ती । यहाँ सब अर्थ बिहारीलालजी के दोहे में ध्वनि से निकल आता है । बिहारीलालजी ने केवल 'बीधे मोसों आइकै' में सब मजमून को कैद कर लिया है । अंत में श्री सूरदासजी कहते हैं—

तजौ बिरद कै मोहिं उबारो 'सूर' गही कसि फेंट ।

इसमें सूर (शूर और सूरदास) का फेंट कसकर गहना बहुत ही

उत्कृष्ट है। 'सुलतानी ऐंठ' का इसमें अच्छा निर्वाह है। पर 'तजौ बिरद कै मोहिं उबारौ' में बात खुल गई, बाँकपन वैसा अक्षुण्ण न रह गया। बिहारीलालजी के—

कौन भाँति रहिहै बिरद अब देखिबी मुरारि;
बीधे मोसों आइकैं,.....................।

में बात बाँकपन से खाली नहीं है। यहाँ आलम ही निराला है, व्यंग्य का प्राबल्य अपेक्षाकृत बिहारीलालजी के दोहे में ही अधिक है। 'कौन भाँति रहि है बिरद' और 'तजौ बिरद कै मोहिं उबारौ' में प्रथम में जितनी तिखावट है, उतनी दूसरे में नहीं है। बिहारीलालजी की आन-बान निराली है। बात एक ही है, पर कहने के ढंग में अंतर है। फिर भी सूरदासजी के वर्णन में बात खूब खोलकर साफ-साफ कही है, इससे प्रसाद-गुण की मात्रा अधिक जान पड़ती है।

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित अहौं पीढ़िन को, पतितै ह्वै निस्तरिहौं;
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं।
कत अपनी परतीत नसावत, हौं पायो हरि हीरा;
'सूर' पतित तब हीं लै उठिहैं, जब हँसि दैहो बीरा।
(श्री सूरदासजी)

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस को जीते जदुराज;
अपने-अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज।
(बिहारी-सतसई)

इन दोनों पद्यों में भी एक ही बात का वर्णन और एक ही-सा भाव है। उद्धार के अभिलाषी दोनों भक्तों को भगवान से कैसी प्रेमपूर्ण भावना है। दोनों भक्त अपनी-अपनी टेक पर अड़े हैं। भक्त

और भगवान के बीच का यह प्रेम-कलह बड़ा ही सुहावना है। भक्त अपने पापों को छिपाते नहीं। उन्हें अपनी अटल भक्ति पर बड़ा विश्वास है। उन्होंने अपने को निष्कपट रूप से ईश्वर के श्री चरणों में समर्पित कर दिया है। वे जानते हैं, उन्हें विश्वास है कि उनकी प्रगाढ़, सच्ची भक्ति के कारण उनके भगवान उनका उद्धार अवश्य करेंगे। दोनों की कथन-शैली में अंतर होते हुए भी सूरदास के पद्य में नम्रता का भाव कुछ अधिक है, पर बिहारी-लालजी के दोहे में 'को जीते जदुराज' में प्रेम का प्राबल्य और तल्लीनता की मात्रा कुछ विशेष है। पर सूर के पद्य में भक्त को अपनी विजय का अपेक्षाकृत अधिक आत्मविश्वास है। मुझे दोनों पद समान जान पड़ते हैं।

इसी प्रकार की मधुर, भाव-पूर्ण उक्ति भारतेंदु हरिश्चंद्र की भी है। उसमें भी भक्त को उद्धार की इच्छा है। यहाँ भी निष्कपट भाव से भगवान के श्रीचरणों में भक्त अपने को समर्पित कर देता है। देखिए

आजु हम देखत हैं, को हारत।
हम अघ करत कि तुम मोहिं तारत को निज बान बिसारत।
होड़ परी है तुम सन हम सन देखें को प्रन पारत ;
हरीचंद अब जात नरक महँ कै तुम धाय उबारत।

तुम कब मो-सो पतित उधारयो।
काहे को प्रभु बिरद बुलावत बिनु मसकत को तारयो।
गीध, ब्याध, गज, गौतम की तिय तिनको कहा निहोरो ;
गनिका तरी आपुनी करनी नाम भयो प्रभु तोरो।
अजामील तो बिप्र तुम्हारो हुतो पुरातन दास ;
नेक चूक ते यह गति कीन्हीं फिर बैकुंठहिं बास।
पतित जानि तुम सब जन तारे, रह्यो न काहू खोट ;
तो जानों जो मोहिं तारिहौ 'सूर' कूर कवि ढोट।
(श्री सूरदासजी)

बंधु भए का दीन के ? को तार्‌यो रघुराय ?
तूठे - तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद बुलाय ।
(बिहारी-सतसई)

यहाँ भी वही बात है। जितना भाव सूरदासजी के विस्तृत पद में है, उतना ही भाव बिहारीलालजी के छोटे-से दोहे में है। दोनों भक्त कवियों ने भगवान को अपने उद्धार के हेतु दृढ़ता से आह्वान करते हुए कहा है कि यदि सामर्थ्य हो, तो हमें तारो। पहले के पतित जिन्हें तारा है, वे यथार्थ में पतित नहीं थे, उनमें कोई भी बुराई (खोट) नहीं थी। सूरदासजी के कथन से भगवान का पतित-तारण 'विरद' बिना मशक्कत के व्यर्थ ही मिल गया है। बिहारीलालजी के कथन से भगवान का वह बिरद 'झूठा' है। दोनों भक्तों के कथनों का अभिप्राय यह है कि भगवान जिनके बंधु हुए, वे वास्तव में दीन-दुखी नहीं थे, पूरे दीन-दुखी तो हम हैं, जिन्हें तारा, वे यथार्थ में पतित नहीं थे, यथार्थ में पतित तो हम हैं। अतएव ऐसे लोगों के बंधु होकर दीनबंधु एवं ऐसे लोगों के तारनेवाले होकर पतित-तारण कहलाना और ऐसे काम करके इन विरदों से संतुष्ट होना तो झूठी प्रशंसा से फूल उठना है। ये विरद तो भगवान को तब शोभा दें, जब वह हमें—हमारे समान दीन-दुखी और यथार्थ पतितों को—तारें। इस वर्णन में भी अपेक्षाकृत बिहारीलालजी की सूक्ति जोरदार है।

कई लोग बिहारीलालजी को भावापहरण का दोषी कहेंगे, पर ध्यान रहे, ये भाव श्रीमद्भागवत के हैं। सम्भव है, दोनों ने उन्हें भागवत से ही लिया हो, और यदि बिहारीलालजी ने भाव ही लिए हैं, तब भी वह उनमें संस्कार कर गये हैं, उनपर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगा गए हैं, अतएव वह श्रेष्ठ हैं। यहाँ हमारे पाठक देखें कि बिहारीलालजी ने कैसी सफलता से गागर में सागर भरा है। फिर उनकी भक्ति-भावमयी सूक्तियाँ जब भक्त-शिरोमणि

महात्मा सूरदास की भक्ति-भावमयी, प्रसिद्ध सूक्तियों से सफलता-पूर्वक टक्कर लेती हैं, तब उनके हृदय में भक्ति-भाव कितना ऊँचा था, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इस स्थल पर पं० कृष्णबिहारी मिश्र के बिहारीलालजी पर 'देव और बिहारी' पुस्तक में किए गए अनुचित आक्षेप का समुचित उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र लिखते हैं—

"'तरयोना' का 'श्रुति-सेवन' एवं 'मुक्तनि' के साथ 'बेसरि' का 'नाक-बास' तथैव किसी की चाल 'पद-पद पर प्रयाग का' बनना हमें लाचार करता है कि हम बिहारीलालजी के धार्मिक भावों की अधिक छान-बीन न करें।"

(देव और बिहारी, पृष्ठ १५०)

मिश्रजी के उपर्युक्त वाक्य से तात्पर्य यह निकलता है कि कविवर बिहारीलालजी के उपर्युक्त आशयवाले दोनों दोहे देखने से उनके धार्मिक भावों की हीनता का पता चलता है। अर्थात् वे दोनों दोहे इस बात का प्रमाण हैं कि वह धार्मिक नहीं थे, उनमें धार्मिक भावों का सर्वथा अभाव था।

खैर, मिश्रबंधुओं ने तो कविश्रेष्ठ, परमभक्त, दार्शनिक बिहारी-लालजी को गुंडा और शोहदा कहकर अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया था, पर आपने वैसा नहीं किया, परंतु फिर भी आपने मीठी भाषा में लगभग उसी प्रकार का आक्षेप करने में कसर नहीं की। 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' मानकर आपने भी जो अपने हृदय की उच्चता का परिचय दिया है, उसके लिये आप भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रिय पाठक, अब मैं आपके सम्मुख उन दोनों दोहों को, जिनमें पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने बिहारीलालजी को धार्मिक भावों से हीन करार दिया है, रखता हूँ। देखिए, वे ये हैं—

अजौं तर्‌यो नाहीं रह्यो श्रुति सेवत इक अंग ;
नाक-बास बेसरि लह्यो बसि मुकतन के संग ।
(बिहारी-सतसई)

केवल श्रुतिसेवी मुमुक्षु से कोई भक्त कह रहा है–"हे मुमुक्षु ! एक अंग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अभी तक नहीं तरे । तुम संकल्प-विकल्प के सागर में पड़े हुए विचार-तरंगों के थपेड़े खा रहे हो । परंतु देखो, मेरे उस भक्त साथी ने (विषय-वासना से रहित वीतराग या अनन्य भक्त) मुक्त पुरुषों की सत्संगति से अनुपम स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया । क्योंकि 'पारस परस कुधातु सुहाई' के अनुसार सत्संगति से उसका मन विषय-वासनाओं से विरक्त होकर भगवान के चरणों की अनन्य भक्ति कर रहा है, अतएव उसने बैकुंठ का वास प्राप्त कर लिया ।"

इस दोहे के अर्थ में किसी को संदेह न हो, इससे मैं शब्दार्थ नीचे देता हूँ । देखिए—

अजौं (अभी तक) तर्‌यो नाहीं (तरा नहीं मुक्ति को प्राप्त नहीं हुआ) रह्यो श्रुति सेवत इक अंग (एक अंग श्रुति का सेवन करता रहा अर्थात् केवल श्रुति-पाठ करता रहा, और आत्मा के विषय श्रवण करता रहा । तू ने निदिध्यासनादि नहीं किया, उन अंगों की ओर ध्यान नहीं दिया, जिनकी मुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यकता है । केवल वेद-पाठ से—श्रुति - सेवन से मोक्ष प्राप्त नहीं होता । मुक्तनि के (मुक्त पुरुषों के) संग (साथ) बसि (वास करके उसने) बेसरि (अनुपम) नाकवास (बैकुंठवास) लह्यो (प्राप्त किया) ।

इस दोहे में कवि ने संसार-सागर से पार होने की इच्छा रखनेवाले लोगों को सत्संगति की महिमा दिखलाई है । कैसा उत्कृष्ट उपदेश है । सत्संगति की महिमा संसार के प्रायः संपूर्ण महाकवियों ने—धर्माचार्यों ने गायी है । कविवर बिहारीलालजी ने यदि

सत्संगति की महिमा गाई, तो वह धार्मिक भावों से हीन हो गए। बलिहारी है मिश्रजी की विवेचना और उनकी विद्या-बुद्धि की! विद्वत्समाज में ऐसे अनुचित आक्षेप सर्वथा उपेक्षणीय ही हैं।

महाकवियों की रचनाओं में काव्य-गुण वैसे ही आ जाता है। इस दोहे में भी यदि श्लेष का चमत्कार आ गया, तो कौन-सी बड़ी बात हो गई। ऊपर दिए गए अर्थ के साथ-साथ इस दोहे का एक और प्रतीयमान अर्थ है, उसे भी देख लीजिए और बिहारी लालजी के भाषा पर एकाधिपत्य की प्रशंसा कीजिए।

"श्रुति (कान) रूप एक अंग का सेवन करनेवाला तरयोना अभी तक तरयोना ही रहा, परंतु (बसि मुकतनि के संग) मुक्ताओं के साथ रहकर बेसर (नथ) ने (नाकबासलह्यो) नाक में स्थान पा लिया।"

परतु इस अर्थ में कोई विशेषता नहीं है, केवल श्लेष का चमत्कार है, अतएव प्रथम अर्थ ही मान्य है।

इसी दोहे पर पं० पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं--

"संगति की महिमा से ग्रंथ भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी भगवद्भक्तों को सत्संगति की महिमा बड़े समारोह से समझाई है। पर इस चमत्कार-जनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारीलालजी अपने कविता-प्रेमियों की नब्ज पहचानते हैं। वह जानते हैं, अपने बावलों को कैसे समझाया जाता है।" रस-लोलुप कविता-प्रेमी सत्संगति की महिमा किस रूप में सुनना पसंद करेंगे? रात-दिन जो चीजें प्रेमियों की नजर में समाई रहती हैं, उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्त्व समझाना चाहिए। कवि के लिये यही उचित है। नीरस उपदेश पर रसिक रोगी कब कान देता है? सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।"

अब वह दूसरा दोहा भी देखिए—

तज तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति कर अनुराग ;
जिहि तैं लखो निकुंज मग पग - पग होत प्रयाग ।
(बिहारी-सतसई)

भक्त-प्रवर महाकवि बिहारीलालजी भक्ति-भावापन्न होकर अपने मन को संबोधित करके कहते हैं—"हे मन ! तू तीर्थों का भटकना छोड़कर श्रीराधा और कृष्ण से अनुराग कर । देख, उनकी—दंपति की—तन द्युति से व्रज के क्रीड़ा-कुंज के मार्ग में पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग बनता जाता है ।"

जब पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग बनता जाता है, तब सैकड़ों तीर्थराज से श्रेष्ठ है, यह ध्वनि निकलती है । और, जब तीर्थराज से श्रेष्ठ है, तब अन्य तीर्थ किस लेखे में—अन्य तीर्थों की क्या गिनती । ध्वनि यह निकलती है कि संपूर्ण तीर्थों का अटन करने से अधिक फल श्रीराधाकृष्ण से अनुराग करने में है ।

कितना भक्ति-भाव-पूर्ण दोहा है, इसे सहृदय पाठक देखें । महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी भी इसी प्रकार का भाव निम्न-लिखित चौपाई में व्यक्त करते हैं—

"अवध तहाँ, जहँ राम-निवासू ।"

अब देखना यह है कि स्वाभाविक कवि बिहारीलालजी की कविता में महाकवियों की कविता के समान चमत्कार तो है ही । अनुज्ञा और काव्यलिंग अलंकारों से परिपुष्ट रूपक की छटा बाँधनेवाले बिहारीलालजी के दोहे में श्रीकृष्ण के श्याम तन की द्युति से यमुना, राधिकाजी के गौर शरीर की आभा से गंगा और पद की अरुणाई से सरस्वती का होना किस प्रकार लक्षित होता है । प्रयाग के संगम का यहाँ किस खूबी से वर्णन किया है । इतना होने पर भी दोहे में भक्ति-भाव की छटा निराली है ।

न-जाने इस 'पद-पद होत प्रयाग' के वर्णन-युक्त, भक्ति-भाव-पूर्ण

दोहे में पं० कृष्णबिहारी मिश्र को धार्मिक भावों की हीनता कहाँ से दिखाई दी। बात तो यह है कि येन केन प्रकारेण देव को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से इन्होंने व्यर्थ बिहारीलालजी की अनर्गल झूठी निंदा और पवित्र रचना में दोष दिखलाने की गर्हणीय चेष्टा की है। पर यह कार्य चद्रमा पर धूलि डालने के समान हास्यास्पद है।

अब बिहारीलालजी के भक्ति-विषयक दो छंद यहाँ और देख लीजिए—

मोहूँ दीजे मोष, ज्यों अनेक अधमन दियो;
जो बाँधे ही तोष, तो बाँधो अपने गुननि।
(बिहारी-सतसई)

"हे भगवन्! मुझे भी मोक्ष दीजिए, जिस प्रकार आपने (अजामिल आदि) अधम लोगों को दिया है। यदि मोक्ष नहीं देना चाहते, और मेरे बाँधने में ही आपको संतोष है, तो माया के गुणों (बधनों) में न बाँधकर आप मुझे अपने गुणों में बाँधिए (जिसमें रात-दिन आपके गुण-गान करता रहूँ)।" इस दोहे में 'बाँधो और 'गुननि' में श्लेष है। 'गुननि' से रस्सियों का भी बोध होता है, और रस्सियों में बांधा जाना कितनी स्वभाविक उक्ति है।

अब अंत में परब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण से बिहारीलालजी के शब्दों में ही, अत्यंत विनीत भाव से युक्त हो, यह निवेदन करके भक्ति-वर्णन को समाप्त करता हूँ—

हरि कीजतु तुमसों यहै बिनती बार हजार;
जिहि-तिहि भाँति डर्‌यो रहौं, पर्‌यो रहौं दरबार।
(बिहारी-सतसई)

७. प्रकृति-निरीक्षक बिहारी

महाकवि बिहारीलालजी अद्वितीय प्रकृति-निरीक्षक थे। उनकी

सूक्ष्म दृष्टि सार्वभौमिक थी। उनकी दृष्टि जिस पदार्थ पर पड़ी उसी को उन्होंने अपनी प्रतिभा से समुज्ज्वल कर दिया। 'जहाँ न पहुँचे रवि' वहाँ पहुँचे कवि' कहावत बिहारीलालजी के विषय में पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। बिहारीलालजी में गुण को भी दोष देखनेवाले मिश्रबंधु भी इस बात को मानते हैं—

"बिहारी की दृष्टि संसार के प्रायः सभी पदार्थों पर पड़ती थी। इस कवि ने रंगों के साथ संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया है, विशेषतया मानुषीय प्रकृति का। इसके प्रायः सभी दोहों में नेचर-निरीक्षण का फल देख पड़ता है। मानुषीय प्रकृति-संबंधी जितनी बातें इस महाकवि ने लिखी हैं, और जितने चोज़ निकालकर इसने रख दिए हैं, उसके आधे भी भाषा का कोई कवि (देवादि) नहीं कर सका है। मानुषीय और विशेषतया नागर-वर्णन में इन्होंने सुकुमारता को भी खत्म कर दिया है। नागर नायिकाओं के साथ-साथ इन्होंने ग्रामीणों का भी अच्छा वर्णन किया है। प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन में यह कवि-वर भाषा-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ हैं।"

(हिंदी-नवरत्न २३५-२३६)

बिहारीलालजी को संसार का भी असीम अनुभव था। वह मनुष्य-प्रकृति के पूरे पारखी थे। मिश्रबंधु भी यह मानते हैं— "यह आप-बीती खूब कहते थे, और जग-बीती भी खूब देखते थे।" पं० कृष्णबिहारी मिश्र भी लिखते हैं— "बिहारीलालजी का ज्ञान भी परिमित न था। उन्होंने भी संसार को बहुत कुछ देखा था। दुनिया के ऊँच-नीच का भी उनको पूरा ज्ञान था। उनका अनुभव बेहद बढ़ा हुआ था।" इत्यादि।

अब यहाँ मैं बिहारीलालजी के कुछ दोहे देता हूँ, पाठक ध्यान से देखें—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय ;
जा तन की झाँईं परे श्याम हरित- दुति होय ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें नीलमणि की कांतिवाले श्याम को कुंदन के-से पीत वर्णवाली राधिका से मिलाकर हरित (हरे, डहडहे,प्रसन्न) लिखना बड़ा ही समीचीन है।

छुटी न शिशुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग ;
दीपत देह दुहूँन मिलि दिपति ताफता रंग।
(बिहारी-सतसई)

वयसंधि मुग्धा नायिका का वर्णन करते हुए लिखा है कि बालकपन और तरुण अवस्था दोनो ही से नायिका के शरीर की आभा इस प्रकार हो रही है, जिस प्रकार 'धूप-छाँह'-नामक कपड़े की होती है, जिसका ताना एक रंग और बाना दूसरे रंग का होता है।

मिलि चंदन बेंदी दई, गोरे मुख न लखाय ;
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरत जाय ।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भी रंग-मिश्रण की छटा है।

शत्रु की सेना को अपना वास-स्थान या नगर छीनने के लिये आगे बढ़ते देखकर उस नगर का स्वामी अपनी प्राण-रक्षा के लिये दुर्ग में किस प्रकार छिप जाता है, इसका वर्णन देखना हो, तो बिहारीलालजी का यह दोहा देखिए। लिखते हैं—

लखि दौरत पिय-कर-कटक बास छुड़ावन काज ;
बरुनी-बन दृग-गढ़न में रही गुढ़ौ करि लाज ।
(बिहारी-सतसई)

प्रियतम के कर-रूपी कटक को वास (निवास, वस्त्र) छुड़ाने के लिये झपटते देखकर बरूनी-रूपी वन में बने हुए दृग-रूप मढ़ में

लाज जाकर छिप रही।" गढ़ या दुर्ग विशेषकर वन में ही बनाए जाते हैं।

अच्छे, चतुर उस्ताद के पास सीखी हुई नृत्य-काल में उरप-तिरप आदि अनेक गति से नाचनेवाली वेश्या का नृत्य बिहारीलालजी ने अवश्यमेव देखा था, एवं वह संगीत और नृत्य के प्रवीण पारखी भी थे, इसी से उन्होंने लिखा है—

सब अंग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय ;
रस-युत लेत अनंत गति पुतरी पातुरराय ।
(बिहारी-सतसई)

बरत बाँधकर नटों के खेल करने का दृश्य भी बिहारीलालजीने देखा था। लिखते हैं—

दीठि-बरत बाँध्यो अटनि, चढ़ि आवत न डरात ;
इत-उत तैं चित दुहुँन के नट-लौं आवत-जात ।
(बिहारी-सतसई)

यह दोहा निम्न-लिखित संस्कृत-श्लोक से मिलता है—

परस्परालोकनरज्जुरेषा
ह्यदान्तरातट्टभुवि प्रबुद्धा ;
गतागतंनिर्भयमत्र यूनो-
र्नटौ बिधत्तो मनसी नितान्तम्

"एक दूसरे का पारस्परिक अवलोकन ही डोरी है, जो एक अटारी से दूसरी अटारी तक बँधी हुई है, उस पर दोनो(युवक और युवती) के मन -रूपी नट निश्शंक होकर आ-जा रहे हैं।"

संस्कृत-श्लोक का 'परस्परालोकनरज्जुरेषा ह्यदान्तरातट्टभुवि प्रबुद्धा।' बिहारीलालजी के 'दीठि-बरत बाँध्यो अटनि' में आ गया है; फिर भाषा के कटुत्व को बहुत कुछ बचाकर रक्खा है। 'गता-

गतं निर्भयमत्रयूनोर्नटौ विधत्तो मनसी नितान्तम।' के स्थान में—
'...................................चढ़ि आवत न डरात; इत-उत तैं चित दुहुँन के नट-लौं आवत-जात।' बहुत ही सुंदर है। श्लोक के 'निर्भय' में वह बात नहीं है, जो दोहे के 'न डरत' में है। भाषा मधुरता में दोहा श्लोक से श्रेष्ठ है। फिर 'बरत' पर दोनों (युवक और युवती) के मन-रूपी नट निर्भय होकर आ-जा रहे हैं। कहने में आश्चर्य का वह स्वरूप स्वप्न में भी नहीं है, जो 'दीठि-बरत........नट लौं आवत-जात।' में है। भाषा की स्वाभाविकता, वर्णन-शैली की उत्तमता, अद्भुत रस का प्रस्फुटन एवं शब्द-विंन्यास की दृष्टि से बिहारीलालजी का दोहा श्लोक से श्रेष्ठ जान पड़ता है।

आर्द्रवस्तु से आँच लगने पर किस प्रकार वाष्प-कण उठते हैं, और फिर वे कहीं किसी वस्तु से छिड़कर, फिर से जल के रूप में आकर किस प्रकार बूँद-बूँद होकर गिरते हैं, इस वैज्ञानिक सिद्धांत का भी बिहारीलालजी ने अच्छा वर्णन किया है। लिखते हैं—

तच्यो आँच अति बिरह की, रह्यो प्रेम-रस भींजि ;
नैनन के मग जल बहै हियो पसीज-पसीज।
(बिहारी-सतसई)

इसके अतिरिक्त बिहारीलालजी ने इतनी बहुत-सी अनुभूत बातों का वर्णन किया है कि यदि उन पर कोई लिखने बैठे, तो एक बड़ा पोथा तैयार हो जावे। बिहारीलालजी उर्दू, फारसी और संस्कृत आदि के भी पूर्ण पंडित थे। संगीत-शास्त्र के भी वह प्रवीण जानकार थे, जैसा उनकी जीवनी से स्पष्ट है।

हाँ, एक बात कथनीय है। वह यह कि बिहारीलालजी काव्य-रीति के पूर्ण ज्ञाता थे। उनकी सतसई में यद्यपि लक्षण नहीं हैं, परंतु पिंगल को छोड़कर शेष संपूर्ण काव्यांगों के ऐसे सच्चे और

उत्कृष्ट उदाहरण सतसई में पाए जाते हैं, जैसे उत्तम-से-उत्तम रीति-ग्रंथ में भी नहीं मिल सकते। विस्तार-भय से मैं उन्हें यहाँ देने में असमर्थ हूँ। उनका कुछ परिचिय मेरे इसी ग्रंथ में आए हुए बिहारीलालजी के दोहे से पाठकों को प्राप्त होगा, और विशेष रूप से जानने के लिए मेरे 'काव्य-रीति' नामक ग्रंथ को देखना आवश्यक है, क्योंकि उसमें काव्य के प्रत्येक अंग-उपांग के उदाहरण प्रायः बिहारी-सतसई से ही दिए हैं। रीति का ऐसा पालन प्रायः दुर्लभ है, आचार्यों से भी यह नहीं हुआ। बिहारीलालजी का एक दोहा और देख लीजिए, जो उन्होंने ललित कलाओं के संबंध में मत प्रकट करते हुए लिखा है। लिखते हैं—

तंत्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग ;
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग।
(बिहारी-सतसई)

"तंत्री-नाद, कवित्व-रस और सरस संगीत आदि में तन्मयता अपेक्षित है। जो इनमें डूब गया (पूर्णया प्रविष्ट हो गया), वह मानो तर गया (प्राप्ताभीष्ट), पर जो इनमें डूबा नहीं—गर्क नहीं हुआ—केवल हाथ डालकर रह गया, वह मानो डूब गया अर्थात् अभीष्ट को प्राप्त न हो सका। कोरा ही रह गया, क्योंकि इन विषयों में वह अज्ञ ही रहा।"

कविवर बिहारीलालजी ने पावस-वर्णन पर एक दोहा यह भी कहा है—

पावस-घन-अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन ;
रात-द्यौस जान्यो परत लखि चकई-चकवान।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कविवर बिहारीलालजी ने वर्षा-ऋतु में चक्रवाक का

वर्णन किया है। इस पर मिश्रबंधुओं ने लिखा है—

"इनके नेचर-निरीक्षण में केवल एक स्थान पर गलती समझ पड़ती है।'....वर्षा ऋतु में चक्रवाक नहीं होते। बहुत-से लोग कष्ट कल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं' पर उस अर्थ को अग्राह्य मानते हैं।"

(हिंदी-नवरत्न, पृ० २३५)

इसका उत्तर प० पद्मसिंह शर्मा ने अपने संजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग में, दोष-परिहार के अध्याय में, पृष्ठ २४०से२४३ तक, दिया है। वहाँ लिखा है—

"नहीं महाशयगण! बंधुगण! ऐसा न मानिए। ऐसा नहीं है। बिहारी के नेचर-निरीक्षण में नहीं, हमें तो यहाँ आपकी समझ में साफ गलती समझ पड़ती है।...." इसके बाद फिर उन्होंने लिखा है— "....कवि लोग वर्षा में चक्रवाक का वर्णन बराबर करते हैं। संस्कृत के, हिंदी के और उर्दू के कवियों ने भी ऐसा वर्णन किया है—

अकालजदच्छन्नमालोक्य रविमण्डलम् ;
चक्रवाकयुगं रौति रजनीभयशंकया।
(सुभाषितावलि)

घनतर घनवृन्दच्छादिते व्योम्नि लोके
सवितुरथहिमांशोः संकथैव व्यरंसीत ;
विरहमनुभवन्ती संगमञ्चापि भर्त्रा
रजनिदिवसभेदं चक्रवाकी शशास।
(सुभाषितरत्न भांडागार)

पिछले पद्य का भाव बिहारीलालजी के दोहे से बिलकुल मिलता-जुलता है। हिंदी-कवियों का वर्षा में चक्रवाक-वर्णन—

'शंकर' ये बिथुरी लट हैं कि भई सजनी रजनी अँधियारी ;
माल मनोहर मोतिन की उरझी उर पै कि बही सरिता री।
दो कुच हैं कि दुकूलन पै चकई-चक भोग रहे दुख भारी ;
स्वेद चुचात कि पावस तोहिं बनाय गयो घनश्याम बिहारी।
(कविराज 'शंकर' महाराज)

दिन-रैन को संधिन बूझिबे की मति कोक तमीचुरवान लगी ;
नदिया-नद लौं उमड़ी लतिका तरु तैसेन पै गुरवान लगी।
कहु 'सेवक' ऐसे में कैसे जिए जेंहि कामतिया डरवान लगी ;
मति मोरिनी की मुरवान लगी, गति बीजुरी की धुरवान 'लगी।
(सेवक कवि)

उर्दू कवियों ने भी बरसात में चकवे का वर्णन किया है—

रित है बरसात की बहुत प्यारी मौज ज़न भीलें नदियाँ सारी।
कोकला, बगले, कोयलें, ताऊस अपनी तानें सुनाते हैं प्यारी।
काजें, मुरगाबियाँ, बतें, सुरखाब भीलों के साथ करते हैं यारी।
(कुल्लियाते-मुनीर, शिकोहाबादी)

सुरखाब = चकवा [फरहंगे-आसफिया (उर्दू-भाषा का प्रसिद्ध विश्वकोष), भाग ३, पृष्ठ ६६]

वर्षा में चक्रवाकों की स्थिति सिद्ध करने के लिये बहुत-से लोग तो क्या, किसी एक 'लोग' को भी कष्ट-कल्पना करते नहीं सुना गया। इसमें कोई दोष ही नहीं है, फिर दोष निकालने के लिये किसी को कष्ट-कल्पना करने की क्या जरूरत पड़ी है।

सुरति मिश्र ने अमरचंद्रिका में इस दोहे पर प्रश्नोत्तर बेशक किया है। वह भी इसलिये नहीं कि वर्षा में चकवाक नहीं होते, उसका अभिप्राय यह है—

"जब पावस के घने अंधकार में इतनी सघनता है कि रात में और दिन में कोई भेद ही नहीं समझ पड़ता, तो फिर चकवी-चकवा कैसे दिखाई पड़ते हैं। जिन्हें देखकर रात-दिन का भेद जाना जाता है, वे चकवी-चकवा भी तो अन्धकार में अदृष्ट रहने चाहिए।"

इसके समाधान में अमरचंद्रिकाकार ने 'लखि' पद का संबंध संबोध्य पुरुष के साथ जोड़ा है। अर्थात् तुम देखो, पावस के घने अंधकार में देखनेवालों को रात-दिन का कुछ भेद नहीं सूझ पड़ता, 'चकई-चकवानि रात-द्यौस जान्यो परै' चकवी और चकवा को ही यह भेद जान पड़ता है। जब दिन होता है, तो स्वाभाविक नियमानुसार चकवी-चकवा आपस में मिलते हैं, जब रात होती है, तब बिछुड़ते हैं।

किसी ने 'लखि' पद का 'लाक्षणिक' अर्थ सुनना किया है। अर्थात् चकवी-चकवा का शब्द सुनकर रात्रि-दिवस का भेद जाना जाता है। इसी अर्थ के अनुसार उक्त दोहे पर कृष्ण कवि का यह सुंदर सवैया है, और किसी प्रकार की कष्ट-कल्पना किसी ने नहीं की। आशा है, अब आप लोग भी इसे ग्राह्य मानने लगेंगे—

अंबुद आनि दिसा-बिदिसा सगरे तम ही को बितान-सो तान्यो;
मेचक रंग बसे जग में अति मोद हिये निसिचारन मान्यो।
पावस के घन के अँधियार में भेद कछू न परै पहिचान्यो;
द्यौस-निसा को बिबेक सुनो चकई-चकवान के बोल तें जान्यो।

(पं० पद्मसिंह शर्मा)

शर्माजी ने इस प्रकार संस्कृत, हिंदी और उर्दू-कवियों के वर्णनों के उदाहरण देकर यह भली भाँति सिद्ध कर दिया कि मिश्रबंधुओं का आक्षेप निर्मूल था। बिहारीलालजी का वर्णन कवि-परंपरा से सिद्ध होने के कारण शुद्ध है।

इस पर पं० कृष्णबिहारी मिश्र बहुत बिगड़े हैं। शर्माजी को पक्ष-पात में अंधे, 'बिहारीलालजी के अंध-भक्त' आदि कहकर अपने दिल का बुखार निकाला है। आपने 'देव'और बिहारी' में लिखा है–"अपव्यय-स्वरूप फुटकर उदाहरणों के व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता। भाषा के कवियों (?) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वर्षा-काल में चक्रवाक नहीं होते। हंटर-कमेटी की मेजारिटी रिपोर्ट जिस प्रकार सफेदी चढ़ाकर डायर-कृत दोष को छिपा नहीं सकती उसी प्रकार शर्माजी बिहारीलालजी के दोष पर आवरण नहीं डाल सकते। भाषा के कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल में चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं।"

(देव और बिहारी, भूमिका)

मिश्रजी का यह मत देखकर मुझे उनकी बुद्धि पर हँसी आती है। क्या बिहारीलालजी, सेवक, कृष्ण और शंकर भाषा के कवि नहीं हैं ? फिर भाषा-कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल में चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं, कहना कितनी नादानी है। मिश्रजी के आक्षेप के उत्तर में मेरा कहना यह है कि भाषा के कवि वर्षा में चक्रवाक का वर्णन सर्वथा उपयुक्त समझते हैं। आपने भाषा-कवियों के वर्णन अभी देखे ही कहाँ हैं ? तीन कवियों-समेत बिहारीलालजी के वर्णन तो शर्माजी ने दिखला ही दिए हैं, अब यहाँ मैं 'भाषा के कवि' किस प्रकार वर्षा में चक्रवाक का वर्णन करते हैं, इसके कुछ उदाहरण और देता हूँ देखिए–

चातक चिहुँक मत' मुरवा कुहुक मत,
झींगुर झिंकार मत, केकी मननाय मत;
चकवा चिकार मत, पपिहा पुकार मत,
बुंद झर धार मत, धार घहराय मत।
'कृष्णलाल' गाय मत, पीर उपजाय मत,
बालम बिदेश पाय मैन तन ताय मत;

पौन फहराय मत, चपला चवाय मत,
धाय मत धुरवा औ' घन घहराय मत।
(कृष्णलाल कवि, ष० ऋ० इ०, पृ० १५१)

कैधों उहि देश घन घुमड़ न बरसत,
कैधौं मकरंद नदी-नद-पथ भरिगे;
कैधों पिक चातक चकित चक्रवाक वाक,
मत्त भए दादुर मधुप मोर मरिगे।
....
....;
कैधों पंचसर हर फेर कैं भसम कीन्हों,
कैधौं पंचसरजू के पाचों सर*सरिगे।
(मकरंद कवि, ष० ऋ० इ० पृ० २१०)

झर की झरन झार झरी-सी झरन अंग,
झंझा की झकोर झार झपटी झरीन में;
छटा की उछट छबि छपत छपाकर को
छाय रही छनदा सुहाई दिन दीन में।
चातक चिहार चकचौंध चारु चहूँ दिशि
चकित चकोर चकवान पी बिहीन में;
तावस परे हैं 'पूखी' कावस पराए देस,
पावस में तामस रह्यो न बिरहीन में।
(पूखी कवि)

*पाँचो शर—
मारणं स्तम्भनं चैव जृम्भणं शोषणं तथा;
उन्मादनं पञ्चबाणान्पञ्चबाणो बिभार्ति सः।

चकई को रैन-भर बिछोहा सुनो री आली ,
काली यह साँपिन-सी रात मोहिं काटे खात;
कैसे कैं बिचारें ये पखेरू अति कामी लोल
प्रानन की प्यारी के वियोग में न मुरझात।
आधी रात टेर-टेर पापी जौ पपीहा हाय,
पीय-पीय पी-पी कर सुरत सुखावे गात
कौन-से भौतिक में भरमैं ये बिसासी प्रान ;
हाय 'जगमोहन' इतै यै क्यों न कढ़ि जात।
(राजा जगमोहनसिंह)

बोलत न भोर भयो, चद्रमा मलीन भयो,
चातक रटनि बकी काहे तें भुलानी है ;
कोक हू मिले हैं तिन्हैं दुख सरसानो अति,
हरष चकोरन के प्रीति कुम्हिलानी है।
'बंशीधर' कहैं भौंर- मंडल कलोल करैं,
केकरि अडोल रहै सौत-मन हानी है ;
चंचला हिरानी, घन-वानी को न लेश रह्यो,
कौन रीति पावस की आजु दरसानी है।
(वंशीधर कवि, प० ऋ०.इ०, पृ० २०२)

चहुँधाँ तैं घरी-घरी घेरि घना घन की घटा घोर घनी घहरैं ;
छिन-ही-छिन छीनन को बरही छिति लौं छिन छाय छटा छहरैं।
चकवा-चकई, बक चातक चीड़िन की चिचियानि चहूँ चहरैं ;
बिलखाय वियोगिनि बेदन सों ,बिजयानँद' बैठ रहे बहरैं।
(विजयानंद, ष० ऋ० इ०, पृ० २०८)

विस्तार-भय से अन्य कवियों के छंदों को उद्धृत नहीं कर सकता। आशा है विद्वान् पाठक इतने से ही संतोष करेंगे। हमारे पाठकों को इन छंदों से यह तो विदित हो ही गया होगा कि पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र का यह कहना कि 'भाषा के कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल में चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं', अनगल है। जब यह वर्णन कवि-परंपरा से सिद्ध है, तब बिहारीलालजी इसके लिये दोषी नहीं ठहराए जा सकते। हिंदी-भाषा के माननीय आचार्य-प्रवर भिखारीदास अपने सुप्रसिद्ध रीति-ग्रंथ काव्य-निर्णय में ऐसे प्रसंग के विषय में निर्णय देते हुए लिखते हैं—

जो प्रसिद्ध कबि रीति में, सो संतत गुण होय ;
लोक बिरुद्ध बिलोकिकैं दूषण गनैं न कोय ।

रही यह बात कि वर्षा में चक्रवाक होते हैं या नहीं, सो इसके विषय में मेरा कथन यह है कि होते हैं। तीन वर्ष पूर्व मैं ओरछे के महाराजकुमार वीरसिंहजू देव बहादुर से मिलने उनके यहाँ गया था। वहाँ एक दिन साहित्य-चर्चा के सिलसिले में वर्षा में चक्रवाक के विषय में बातचीत हुई। श्रीमान् महाराजकुमार ने कहा कि वर्षा में चक्रवाक होते हैं। भादों में भी तालाबों के किनारे चक्र-वाक (सुरखाब) देखे जाते हैं। हिंदू लोग चक्रवाक का शिकार नहीं खेलते, पर मुसलमान खेलते हैं। बिहारीलालजी के इसी उक्त दोहे के विषय में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने बिहारी-रत्नाकर में लिखा है—

"हमारी समझ में इस दोहे में इन झगड़ों का कोई अवसर ही नहीं है। धनाढ्यों के उपवनों तथा पाईबागों में मयूर, सरहंस, चक्रवाक इत्यादि प्रायः पले रहते हैं, और बहुधा उनके पर भी काट दिए जाते हैं। अतएव चाहे जंगली चक्रवाक वर्षा-ऋतु में भारतवर्ष में रहते हों या नहीं, पर ये बेचारे पलुवे चक्रवाक तो अवश्य ही उन उपवनों में उपस्थित रहते हैं। जो लोग उपवनों में

सारस, चक्रवाक इत्यादि पालते हैं, वे उनमें कोई कृत्रिम झील भी बनवा देते हैं। बिहारी का यहाँ चकई-चकवाओं से तात्पर्य ऐसे ही पलुवे चकई-चकवाओं से है, क्योंकि रात्रि-दिवस का निर्णय करने के निमित्त कोई जंगल की दूरस्थ झीलों को देखने क्यों जाने लगा, विशेषतः ऐसे समय, जब सघन घनों के कारण दिन रात्रि-सा हो रहा हो। चकई-चकवाओं के शब्द भी तो ऐसे ऊँचे नहीं होते कि ग्राम के बाहर की झील से ग्राम में सुनाई दें। कवि का मुख्य वर्णनीय विषय यहाँ पावस का सघन अंधकार है. चकई-चकवा का वर्णन केवल गौण रीति पर, मुख्यार्थ साधन के निमित्त. हुआ है।"

(बिहारी-रत्नाकर, पृ० २०१)

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी के प्रकृति-पर्यवेक्षण में रत्ती-भर भी भूल नहीं है। भूल है बतलानेवालों की समझ की। पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र ने तुलसीदासजी की एक चौपाई इसी सिलसिले में 'देव और बिहारी' पुस्तक में उद्धृत की है। वह यह है—

देखहु चक्रवाक खग नाहीं, कलिहिं पाइ जिमि धर्म पराहीं।

फिर लिखा है —"गोस्वामी तुलसीदासजी ने वर्षा में चक्रवाक नहीं माने, यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि हिंदी-कवि वर्षा में चक्रवाक नहीं मानते।" मेरा नम्र निवेदन यह है कि महात्मा तुलसीदासजी ने जो कुछ कहा है, वह सब-का-सब 'सत्यं शिवं सुंदर' नहीं है। उन्होंने भी भूलें की हैं, क्योंकि वह भी अंततः मनुष्य ही थे। उनका कथन सर्वत्र माननीय है, यह कैसे कहा जा सकता है? देखिए निम्न-लिखित दोहे में तुलसीदासजी ने प्रकृति-पर्यवेक्षण की भूल किस प्रकार की है—

तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन ;
अब तौ दादुर बोलिहैं, हमैं पूँछिहै कौन।

(तुलसीदास)

इसमें यह वर्णन किया गया है कि वर्षा में कोकिल नहीं कूकती, पर यह वर्णन सर्वथा अशुद्ध है। वर्षा-ऋतु में उपवन आदि में कोकिल की कूक साफ सुनाई देती है। इसे जो चाहें, स्वयं सुनकर जान सकते हैं। इसके सिवा हिंदी और संस्कृत के सैकड़ों कवियों ने सहस्रों छंदों में वर्षा-काल में कोकिल के बोलने का वर्णन किया है।

हिंदी के सम्माननीय प्रचारक विद्वान् बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने साहित्यालोचन-नामक ग्रंथ के पृष्ठ ८६ में, कवि-कल्पना में, सत्यता का विवेचन करते हुए, लिखा है—

"'चकोर का आग खाना, चंद्रकांत मणि का जल टपकाना आदि कवि-कल्पित बातें हैं, जिनका व्यवहार कविजन केवल अंध-परंपरा के कारण करते आए हैं। हमारी समझ में इस परंपरा को छोड़कर प्रकृति का अनुसरण करना ही उचित और संगत होगा। प्रकृति के विरुद्ध बातें यदि वे कवि-पद्धति के अनुसार हों, तो कवि की परतंत्रता सूचित करती हैं। पर जहाँ कवि-प्रथा भी नहीं है, वहाँ वैसी उक्तियाँ कवि की अज्ञानता, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना ही सूचित करती हैं। जैसे बिहारी-सतसई के कर्त्ता ने यह दोहा लिखा है—

सन सूक्यौ बीतौ बनौ, ऊखौ लई उखारि ;
हरी-हरी अरहर अजौं धर धर हर हिय नारि।

जिन्हें इस बात का अनुभव है कि किस ऋतु में कौन-कौन धान्य उत्पन्न होते और पकते हैं, वे कहेंगे कि कपास पहले होती है, और सन पीछे उखाड़ा जाता है। पर बिहारीलालजी ने सन के पीछे कपास का होना बताया है। इस संबंध में इतना ही कहना बहुत होगा कि कवि ने अपने या दूसरों के अनुभव से काम नहीं लिया, और इस प्रकार प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला।

शृंगार-सतसई के कर्ता ने इसी भाव को इस दोहे में इस प्रकार दिखाया है—

> कित चित गोरी जो भयो ऊखं रहरि के नास ;
> अजहूँ अरी हरी-हरी जहँ-तहँ खरी कपास ।

और अरहर के कट जाने पर भी कपास के पौधों का जहाँ-तहाँ हरा रहना वर्णन किया है, जो ठीक ही है।"

बाबू श्यामसुंदरदासजी की राय में बिहारीलालजी ने अज्ञान, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना करके मन के उखाड़े जाने के बाद कपास का होना लिखकर प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला है। इन महाशय ने बिना समझे-बूझे इतने बड़े महाकवि एवं प्रकृति-निरीक्षक की भूल इस भद्दी रीति से बतलाने में एवं इन अशिष्टता-सूचक शब्दों के प्रयोग करने में न जाने क्या भलाई समझी ? भूल को इतने निर्भ्रान्त होकर इतनी उद्दंडता से दूसरे के सिर थोपने के पहले इन्हें भी तो कुछ पता लगा लेना था।

महाकवि श्री बिहारीलालजी ने तो स्वयं निरीक्षण करके और संपूर्ण उत्तर-भारत के कृषकों के अनुभव से काम लेकर प्रकृति के अनुकूल सच्चा,स्वाभाविक वर्णन किया है; पर बाबूसाहब ने न तो अपने अनुभव से और न दूसरों के अनुभव से ही लाभ उठाया। दोनों का प्रमाण लीजिए—

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होनेवाली मनोरंजन पुस्तक-माला में इन्हीं बाबू श्यामसुंदरदासजी के संपादन में 'कृषि-कौमुदी' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के अंत में कुछ नक्शे दिए है, जिनमें यह दिखलाया है कि किस ऋतुमें कौन-कौन धान्य उत्पन्न होते और पकते हैं। बिहारीलालजी के उपर्युक्त दोहे

में वर्णित धान्य कब-कब उत्पन्न होते या पकते हैं, इसे हम उसी से दिखलाते हैं—

धान्य का नाम	बोने का समय	काटने का समय
सन	जुलाई	ऑक्टोबर
कपास	जुलाई	चुनाई ऑक्टोबर से जनवरी तक
ऊख	फरवरी-मार्च	नवंबर से जनवरी तक
अरहर	जुलाई	चैत, मार्च-एप्रिल

इस नक्शे से यह स्पष्ट विदित होता है कि सन ऑक्टोबर में कट जाता है, कपास जनवरी तक चुनी जाती और फिर काटी जाती है। ऊख जनवरी के अंत तक, बल्कि मार्च तक रहती है। अरहर इससे भी आगे चैत और वैशाख तक कटती है।

इसके सिवा 'साहित्यालोचन' लिखने के पूर्व ही पं० पद्मसिंह शर्मा ने सतसई के संजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग में बिहारी-लालजी के उक्त दोहे के साथ शृंगार-सतसई के उपर्युक्त दोहे की तुलनात्मक आलोचना करते हुए लिखा था—

"ऊपर के दोहे में बिहारी ने शब्द-रचना-चातुर्य—अनुपम छेकानुप्रास-माधुर्य के अतिरिक्त अपनी प्रकृति-पर्यवेक्षण-प्रवीणता का परिचय भी कितने अच्छे प्रकार से दिया है। किसी 'संकेत-विघट्टना'—अनुशयाना नायिका को अंतरंग सखी धीरज बँधा रही है कि यद्यपि सन सूख गया, वन (कपास) की बहार बीत

गई और ऊख (ईख) भी उखाड़ ली गई, पर अभी हरी-हरी अरहर खड़ी है, इसलिए हृदय में धीरज धर, घबरा मत, एक बहुत सघन संकेतस्थल (सहेट) अरहर का खेत अभी बना है।

दोहे में इन चीजों के सूखने और उखाड़ने आदि का क्रम बिलकुल ठीक है। हर जगह का किसान इसका ताईद करेगा।

अब जरा शृंगार-सतसईकार का 'नेचर-निरीक्षण' देखिए। इन हजरत ने अनभिज्ञता से 'नास' के साथ 'कपास' की तुक मिलाने के धुन में कितनी उलटी बात कह डाली है जो वास्तविकता के—प्रायः सार्वदेशिक अनुभव के—विरुद्ध है। ऊख (ईख) के बाद 'रहरि' (अरहर) का नास नहीं हो जाता, प्रत्युत वह ईख के बहुत दिनों पीछे तक—गेहूँ काटने तक—हरी-भरी खड़ी रहती है, और बन (कपास) की बहार इन दोनों से बहुत पहले बीत जाती है। पर शृंगार-सतसई उस समय 'जहँ-तहँ हरी-हरी कपास खरो' देख रहे हैं, जब उसका अक्सर निशान भी नहीं रहता। भारतवर्ष में तो करीब-करीब सब जगह ऐसा ही होता है।"

(सत० संजी० भा० भूमिका-भाग, पृष्ठ १२६-१२७)

तात्पर्य यह कि बाबू श्यामसुंदरदास ने स्वयं ही न तो अपने अनुभव से, न दूसरों के ही अनुभव से ही लाभ उठाया, और एक व्यर्थ अपराध महाकवि बिहारीलालजी के सिर मढने का उपहासास्पद प्रयत्न कर डाला।

उपसंहार

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अध्यायों में भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से बिहारी-सतसई का दिग्दर्शन करा चुकने पर यह स्पष्ट है कि ब्रज-भाषा-साहित्य की इस गौरवमयी रचना में सचमुच गागर में सागर भरा है। इस छोटे-से अनोखे काव्य-कोष की काव्य-कला-संबंधिनी उत्कृष्टता एवं गंभीरता पर रसिक काव्य-प्रेमी एवं साहित्य-मर्मज्ञ हृदय न्योछावर करते आए हैं। यद्यपि सैकड़ों धुरंधर विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ विवेचकों ने काव्य के इस अनुपम खजाने की असीम प्रशंसा की है; पर कुछ ऐसे सज्जन भी हैं, जिन्होंने बिहारीलालजी के उत्कृष्टतम काव्य में कतिपय दोषों की उद्भावना की है। इनमें भी जहाँ प्राचीन विवेचक टीकाकारों ने कहीं एकाध दोष दिखलाया है, वहाँ आधुनिक आलोचक श्रीमिश्र-बंधुओं एवं पं० कृष्णविहारी मिश्र ने बिहारीलालजी के व्यक्तित्व एवं उनकी सतसई पर कुछ निंद्य आक्षेप किए हैं।

श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न में बिहारीलालजी का गुंडों-जैसा काल्पनिक चित्र बनवाकर उस समय छपवाया, जब उन्हें थोड़े-से परिश्रम से बिहारीलालजी का प्राचीन, प्रामाणिक चित्र जयपुर दरबार से प्राप्त हो सकता था। इस चित्र पर आलोचकों ने घोर आपत्ति की थी, पर श्रीमिश्रबंधुओं ने उनकी कुछ भी परवा न कर नवरत्न के द्वितीय संस्करण में उस चित्र को जैसे-का-तैसा रख दिया। इस प्रकार किसी के चरित्र पर कलंक-कालिमा पोतने की गर्हणीय दुश्चेष्टा करना अत्यंत अनुचित है। इसके सिवा कहीं बिहारीलालजी की रचना में काइयाँपन बतलाया है, तो कहीं उनकी भक्ति को वितंडा-मात्र कहने का दुस्साहस किया है। इस प्रकार

कई जगह निंदात्मक ढंग से कलम चलाई है। सतसई के प्रति दोहे पर एक मोहर की प्राप्ति की बात पर आप लोगों ने नवरत्न के प्रथम संस्करण में लिखा था—"कहते हैं कि राजा जयसिंह ने.... इन्हें (बिहारी को) प्रति दोहा एक मोहर दी। यह एक मोहरवाली बात यथार्थ नहीं जँचती........जान पड़ता है, इनका पूरा सम्मान कभी नहीं हुआ। यदि प्रति दोहा एक मोहर मिलती होती, तो यह हजारों दोहे बना डालते, और सात ही सौ दोहे पर संतोष न करते। यदि मोहरों पर हजारों दोहे बने होते, तो वे इनके किए भी लुप्त न होते।

(प्रथम सं०, पृष्ठ २२३)

इसपर विद्वान् आलोचकों ने समझाया था कि प्रबल जन-श्रुति के विरुद्ध बिना प्रमाण के ऐसे मनगढ़ंत, काल्पनिक आक्षेप करना निंद्य कार्य है; परंतु हठवादी श्रीमिश्रबंधुओं ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, वरन् द्वितीय संस्करण में और भी तेजी से लिखा है—"यह एक मोहरवाली बात ठीक नहीं जँचती........जान पड़ता है, इनका पूरा सम्मान कभी कहीं नहीं हुआ। यदि हरएक दोहे पर एक मोहर मिलती होती, तो वह हजारों दोहे बना डालते, साथ ही सौ दोहों पर संतोष न करते। यदि मोहरों के पुरस्कार पर हजारों दोहे बने होते, तो वे इनके किए भी लुप्त न होते।"

(हिंदी-नवरत्न, द्वि० सं०, पृष्ठ २७६)

भूषण कवि को शिवाजी द्वारा मालोपमा के एक साधारण कवित्त पर, उस समय जब की राष्ट्रीय कार्य के लिये धनाभाव था, लाखों रुपया दिया जाना तो यथार्थ जँचा, पर मिर्जा राजा जयसिंह-जैसे श्रीमान् नरेश द्वारा सात सौ अशर्फियाँ, उस समय जब कि बिहारीलालजी ने राजा जयसिंह पर कविता का जादू चलाकर उनका अपार हित किया था, दिया जाना यथार्थ नहीं जँचा। सच तो यह है कि बिहारीलालजी के साथ अन्याय कर उन्हें देव से

हीन प्रमाणित करने की धुन में इन महाशयों ने बिहारीलालजी पर यह जुल्म ढाया है। आपलोगों ने बिहारीलालजी की संपूर्ण रचना में छ दोष दिखलाए हैं—(१) शृंगार में मरण-दशा का वर्णन, (२) गर्भवती नायिका का वर्णन, (३) वर्षा में चक्रवाक, (४) रात्रि में भ्रमण-वर्णन, (५) पति द्वारा चुंबित पुत्र के मुख-चुंबन से नायिका के हृदय में सात्त्विक भाव को उत्पत्ति और (६) भाषा का तोड़-मरोड़ का दोष।

नवरत्न के बाद पं० पद्मसिंह शर्मा का 'सतसई-संजीवन-भाष्य'-नामक तुलनात्मक समालोचना-पूर्ण ग्रंथ निकला। इसका हिंदी में स्वागत हुआ और सर्व-प्रथम इसी ग्रंथ पर अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद-पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसमें विद्वान् समालोचक ने यह भली भाँति सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि बिहारी-सतसई के अनेक दोहे 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथा-सप्तशती' एवं 'अमरुक-शतक' के श्लोकों एवं श्रीकेशवदास आदि को सूक्तियों के आधार पर बने हैं। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारीलालजी ने गृहित भावों को अपनी प्रतिभा के बल से सर्वथा स्वतंत्र और अधिक सुंदर रूप दे दिया है। साथ ही आपने तुलनात्मक आलोचना द्वारा बिहारी-सतसई के दोहों की तुलना संस्कृत, फारसी, उर्दू एवं हिंदी के प्रसिद्ध कवीश्वरों के समान भाववाले छंदों से करके यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि बिहारीलालजी की कविता बहुत ही उच्च कोटि की है। उनकी समता की कविता ढूंढ़ निकालना दुस्साध्य है। इनमें संस्कृत-साहित्य में सम्माननीय गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती, अमरुक-शतक, पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली, महाकवि श्रीहर्ष, महाराजा भर्तृहरि, महाकवि बिल्हण आदि हैं। उर्दू-कवियों में उर्दू-काव्य-जगत के प्रसिद्ध महाकवि गालिब, जौक सौदा, मीर तकी, मीर दर्द, नासिख, मोमिन, दाग, नासरअली, जफर, नजीर, एवं अकबर

आदि हैं। हिंदी-कवियों में आचार्य और महाकवि केशवदास, महाकवि राय सुंदर, तोषनिधि, दूलह, सेनापति, भिखारीदास, गंग, मतिराम, पद्माकर, कालिदास एवं कविवर रसखानि आदि हैं, जिनकी रचनाओं से हिंदी-काव्य का गौरव है। इनके अतिरिक्त सतसई के ढंग के प्रसिद्ध ग्रंथ जैसे शृंगार-सतसई, विक्रम-सतसई रतनहजारा और वृंद-सतसई की सूक्तियों से भी बिहारी-सतसई की सूक्तियों की तुलना की गई है। शर्माजी ने तुलनात्मक आलोचना द्वारा यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि इन सबके मुकाबिले में बिहारी-सतसई के दोहे ही श्रेष्ठ ठहरते हैं। इसके बाद आपने बिहारीलालजी को हिंदी-भाषा का सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि घोषित किया है। फिर दोष-परिहार-शीर्षक में पृष्ठ २६० से २७२ तक श्रीमिश्रबंधुओं के बतलाए दोषों का सप्रमाण निराकरण करके लिखा है—"इस अतिरिक्त मेसर्स मिश्रबंधुओं ने बिहारी पर और भी कृपा की है। बिहारी की भक्ति को वितंडा-मात्र कहा है। उसे काइयाँपन की उपाधि दी है, गुंडों का-सा चित्र बन कर उनके चरित्र पर कलंक-कालिमा पोतने की गर्हणीय दुश्चेष्टा की है........।"

श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न में देव को, अपने पिता स्वर्गीय पं० बालदत्तजी मिश्र की सुखसागर-तरंग की भूमिका में दी हुई सम्मति के अनुसार, बिहारीलालजी से श्रेष्ठ मान लिये है। पर इसके लिए इन महाशयों ने कोई कारण नहीं बतलाया। और, सच तो यह कि देव को बिहारीलालजी से श्रेष्ठ सिद्ध करने की धुन में ही आप लोगों ने बिहारीलालजी के साथ घोर अन्याय कर डाला है। पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा बिहारी-विषयक अपने पाँचों आक्षेपों का प्रामाणिक उत्तर दिए जाने पर एवं बिहारीलाल जी को सर्व-श्रेष्ठ हिंदी-कवि प्रमाणित हुआ देखकर तथा देव कवि को संजीवन भाष्य में तुलना के संबंध में स्थान मिलता न देखकर श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने रुष्ट होकर पं० कृष्णविहारी मिश्र से 'देव और

बिहारी'-नामक तुलनात्मक आलोचना-पूर्ण ग्रंथ लिखवाया। इसके विषय में श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न के द्वितीय संस्करण में स्वयं ही लिखा है—"चिरंजीवि कृष्णविहारी मिश्र ने अपनी 'देव और बिहारी' पुस्तक में ऐसी (तुलनात्मक) आलोचना भी की है। ....उक्त ग्रंथ भी ....हिंदी-नवरत्न का ही अंग है।"

(भू० पृ०, ४-५)

तात्पर्य यह कि पं० कृष्णविहारी मिश्र-कृत 'देव और बिहारी' को मिश्रबंधुओं ने स्वयं ही अपनी 'हिंदी-नवरत्न का अंग खुले-खजाने स्वीकार किया है। इस ग्रंथ के लिखने में ग्रंथकार के दो मूल उद्देश्य स्पष्ट हैं—(१) पं० पद्मसिंह शर्मा को खरी-खोटी सुनाकर उनका उपहास करना और (२) अनुचित पक्षपात कर के देव को बिहारीलालजी से श्रेष्ठ सिद्ध कर श्रीमिश्रबंधुओं के भ्रमात्मक मत-का समर्थन करना। आपने 'देव और बिहारी' की भूमिका में 'पं० पद्मसिंह शर्मा का बिहारी के साथ 'अनुचित पक्षपात'-शीर्षक देकर एक निबंध पृष्ठ ६६ से पृष्ठ ८६ तक २० पृष्ठों में लिखा है। उसमें पं० पद्मसिंह शर्मा पर अनेक कटु आक्षेप किए हैं, डरा-धमका कर उन्हें कहीं उपदेश दिया है, और कहीं उन्हें ज्ञान-हीन एवं हठ-वादी आदि सिद्ध करने का दुर्बल एवं असफल प्रयत्न किया है। आपने स्पष्ट ही लिखा है—"मिश्रबंधु-विनोद और नवरत्न के रचयिताओं पर भी भाष्यकार ने नाना भाँति के आक्षेप किए हैं.... कहीं कहीं पर भाष्यकार ने उनको गुरुवत् उपदेश-सा दिया है; यथा 'ऐसा न लिखा कीजिए; ऐसा लिखिए।' धमकी की भी कमी नहीं है। बिहारीलालजी के चरित्र को अच्छा न बतलाने के कारण उनपर कविवर के चरित्र को जान-बूझकर सदोष बतलाने की 'गर्हणीय दुश्चेष्टा' का अभियोग भी लगाया गया है। नवरत्न के रचयिताओं पर जितने आक्षेप भाष्यकार ने किए हैं, उनमें से एक भी ऐसा

नहीं है, जो मतभेद से खाली हो।" (पृष्ठ ६२) "इस पक्षपात का चूड़ांत उदाहरण पाठकों को इसी से मिल जायगा कि देव-सदृश-उच्च कोटि के श्रृंगारी कवि की कविता से बिहारी के दोहों की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक संजीवन-भाष्य के प्रथम भाग में नहीं आने पाया है।" (पृष्ठ ५२)

आपने देव कवि को महाकवि बिहारीलालजी से ऊँचा सिद्ध करने का जो दुर्बल प्रयत्न किया है, उसमें आदि से अंत तक अंध-भक्ति और अनुचित पक्षपात का साम्राज्य है। इसका चूड़ांत उदाहरण यह है कि आप ग्रंथ में आदि से अंत तक देव कवि को 'देवजी' और महाकवि बिहारीलालजी को बिहारी लिखते गए हैं। बिहारीलालजी के नाम के साथ आदर-सूचक 'जी' का प्रयोग करने में आपका हृदय अनुमति ही न देता था। यह ईर्षा निंद्य है। फिर पुस्तक में दोनों को स्थान देने में जो अन्याय हुआ है, वह भी कम निंदनीय नहीं है। जैसे—

बहुदर्शिता-नामक अध्याय में १५ पृष्ठों में से देव को १२ और बिहारी
को ३ पृष्ठ दिए गए हैं।
प्रेम-परिचय " " १५ " " १२½ पृष्ठ और बिहारी
को २½ पृष्ठ दिए गए हैं।
मन " " १४ " " ११ पृष्ठ और बिहारी
को १½ पृष्ठ दिया गया है।
शेष १½ पृष्ठों में 'छप्यो' शब्द पर पं० पद्मसिंह को
आड़े हाथों लिया है।
नेत्र " " ५½ " " ४ पृष्ठ और बिहारी
को १½ हैं पृष्ठ दिया गया है।
भाषा " " ८ " " ६ पृष्ठ और बिहारी।
को २ पृष्ठ दिए गए हैं

फिर बिहारीलालजी के विषय में जिस निंदनीय ढंग से लिखकर देव के दोष छिपाए हैं, उसके लिये ये महाशय निंदा के पात्र हैं। आप अपने दोनों उद्देश्यों द्वारा महाकवि श्रीबिहारीलालजी को हीन सिद्ध करने में कहाँ तक सफल हुए हैं, इसे यहाँ प्रसंग-वश दिखलाना अनिवार्य रूप से आवश्यक प्रतीत होता है। पहले पं० पद्मसिंह शर्मा का पं० कृष्णविहारी मिश्रद्वारा दिखलाया पक्षपात दो उदाहरणों में दिखलाता हूँ, फिर बिहारीलालजी और देव की तुलना पर संक्षिप्त विचार किया जाता है।

यहाँ मैं पहले मिश्रजी की रचना का वह अंश दिखलाता हूँ, जिसमें पं० पद्मसिंह शर्मा पर अनुचित कटाक्ष किए गए हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारीलालजी के तीन दोहों की तुलना केशवदासजी के तीन कवित्तों से की है। उसपर मिश्रजी ने कटाक्ष किया है। यहाँ मैं उभय कवियों के छंद पं० पद्मसिंह की आलोचना और पं० कृष्णविहारी मिश्र की प्रत्यालोचना एवं अपनी व्याख्या-सहित पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए देता हूँ—

नेकु हँसौंहीं बान तजि लख्यो परत मुख नीठि ;
चौका चमकनि चौंध में परति चौंध-सी दीठि।
(बिहारी)

तैसीए जगति जोति सीस सीसफूलन की,
चिलकत तिलक तरुनि तेरे भाल को ;
तैसीए दसन-दुति दमकति 'केसोराय',
तैसोई लसत लाल कंठ कंठ-माल को।
तैसीए चमक चारु चिबुक कपोलन की,
झलकत तैसो नाक-मोती चल चाल को;

हरे - हरे हँसि नेक चतुर चपलनैनि,
चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।
(केशव)

"केशवदासजी ने अपने मदनगोपाल के चित्त की चकाचौंध के लिये इतनी चमकीली चीजें एक जगह जमा कर दी हैं कि उनकी मौजूदगी में चकाचौंध न हो, तो ताज्जुब है। सिर पर जगमगाता सीसफूल, माथे पर चमकता तिलक, दाँतों की चमक, कंठ में लाल रत्नों का कंठा, नाक में हिलता हुआ आबदार मोती, फिर चिबुक और कपोल की दमक, उसपर चपल-नैनी का जोर-जोर से हँसना इतने पर भी चकाचौंध न हो, तो कब हो ? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हुई।

"पर बिहारी के यहाँ कमाल है। नायिका के हँसने में जो जरा दाँतों का चौका खुलता है, तो उसी के प्रकाश से देखनेवाले की आँखों में ऐसी चकाचौंध छा जाती है कि मुँह मुश्किल से नजर आता है। आँखों के सामने जब बिजली कौंध जाती है, तो सामने की चीज नजर नहीं आती। इस अकेली दशन-प्रभा के सामने केशवदास की इधर-उधर से जुटाई हुई सारी चमकीली चीजें मात हैं!"

(पं० पद्मसिंह शर्मा सत० स०जी० भा० भू० भा०, पृष्ठ ९६-९७)

शर्माजी पर आक्षेप करते हुए मिश्रजी लिखते हैं—

"शर्माजी ने बिहारी के कई दोहों की तुलना केशवदास के कवित्तों से की है। तुलना के पश्चात् बिहारीलाल को बलात् श्रेष्ठ ठहराया है। जिन कवित्तों से तुलना की गई है, केवल उन्हीं पर विचार करने से तो केशवदास, किसी भी प्रकार हीन प्रमाणित नहीं होते हैं। बड़े ही दुःख का स्थल है कि शर्माजी केशवदास के जिस कवित्त का पूर्ण अर्थ भी नहीं समझ पाते, उसी को बिहारीलाल के

दोहे के साथ तुलना करने के लिये उद्धत करते हैं। यह कहाँ का न्याय है ? 'हरे-हरे हँसि नेक चतुरं चपलनैनि चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।' इस पद में, 'हरे-हरे हँसि ... चपलनैनि' का अर्थ शर्माजी ने चपलनैनि का जोर-जोर से हँसना किया है। 'हरे-हरे हँसि' का अर्थ जोर से हँसना न होकर ठीक उसके विपरीत 'धीरे-धीरे हँसना' है। पर आपको इससे क्या ? येन केन प्रकारेण बिहारीलाल श्रेष्ठ सिद्ध हो जायँ, इसी की धुन समाई है ! यदि बिहारीलाल ने 'नेक हँसौंही' कहा था, तो चट आपने केशव के छंद में 'नेकु' का उल्टा 'जोर-जोर से' ढूँढ़ लिया। बलिहारी इस धाँधली और विदग्धता की ! यदि बिहारीलाल जीवित होते, तो केशव से बड़े सिद्ध होने के लिये कदाचित् इस प्रकार की चालें कभी पसंद न करते।

"हमारी राय में केशव का कवित्त दोहे से जरा भी नहीं दबता है। परन्तु जो पक्षपात का चश्मा चढ़ाए है, उससे कौन क्या कहे ?—शर्माजी अपने वितंडावाद से केशव की इस अनूठी उक्ति की रमणीयता नष्ट नहीं कर सकते हैं।"

(पं० कृष्णविहारी मिश्र 'देव और विहारी,' पृष्ठ ७१-७३)

उपर्युक्त अवतरण से मिश्रजी की 'साधुभाषा' और 'सौम्य स्वभाव' का पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। इसे ही अनेक लोग आदर्श समालोचना मान बैठे हैं। इस तरह निंद्य आक्षेप करना और वह भी ऐसी अशिष्ट भाषा में, सभ्य-समाज में कभी उचित नहीं माना जा सकता। केशव के छंद के विषय में कोई भी साहित्य-मर्मज्ञ कह देगा कि वह बिहारीलालजी के दोहे से बहुत नीचा है। अपनी नासमझी के कारण मिश्रजी ने इसे श्रेष्ठ कहा है; खूबी तो यह है कि आपने उस स्थल पर उभय कवियों के पद्यों को भी उद्धृत नहीं किया है। यह चालबाजी अच्छी नहीं कही जा सकती।

कम-से-कम पद्य तो लिख ही देते, जिसमें साहित्य-मर्मज्ञ मिश्रजी के कथन पर विचार करने का अवसर पाते। स्थानाभाव का बहाना नहीं किया जा सकता। जहाँ मिश्रजी वितंडावाद में दो सफे काले कर सके हैं, वहाँ दो पद्य भी उद्धृत कर सकते थे। खैर, अब मैं पाठकों के सम्मुख दोनों की व्याख्या की विवेचना उपस्थित करता हूँ—

दोहे में नायक किसी स्मितवादिनी, हास्यमयी सुंदरी से कहता है—

"हे प्रियतमे! धीरे-धीरे हँसने की आदत छोड़ दे, क्योंकि इसमें तेरे सुन्दर मुख की ओर देखना कठिन हो जाता है। तेरे थोड़ा हँसने में जो दाँतों का चौका जरा खुलता है, उसकी चमक से चकाचौंध पैदा होती है, और मेरी आँखें उसमें चकचौंधिया जाती हैं।"

बिहारीलालजी के इस वर्णन में नायिका की 'नेकु हसौंहीं बान' के कारण जो दाँतों का चौका जरा खुलता है, उसकी चमक इतनी तेज होती है कि नायक की आँखों में चकाचौंध छा जाती है। इसी से—'लख्यो परत मुख नीठि।' एव मुख-सौंदर्य-सुधा का इच्छुक नायक इसी कारण बड़े दैन्य भाव से नायिका से कहता है—"नेकु हसौंहीं बान तज।" इस दोहे में नायक के दैन्य भाव और सुन्दरी नायिका की अप्रतिम दंत-द्युति का उत्कृष्ट वर्णन है। नायक के द्वारा नायिका की सुन्दर दशनावली की प्रशंसा भी इस दोहे में निराले ढंग से व्यक्त की गई है।

केशव कहते हैं—"कोई सखी नायक पर अनुग्रह कर नायिका से कहती है कि हे सखी, सीस-फूलन की जगत जोति, भाल को चिलकत तिलक, दमकत दसन-दुति, कंठ लाल को कंठ-माल, चिबुक कपोलन की चारु चमक, नाक को चल चाल को मोती—ये सब बड़ी चमकवाले हैं। इनकी चमक, और झलक में हे चतुर,

चपलनैनि ! तेरे जोर-जोर से हँसने के कारण 'दशन-दुति दमकति' है, जिससे मदनगोपाल का चित्त 'चकचौंधे' है। अतएव तू 'हरे-हरे हँस' धीरे-धीरे हँस।''

अब आइए, केशव के कवित्त को कसौटी पर कसें। देखें, खरा है, या खोटा। केशव लिखते हैं कि नायिका की 'सीस सीस-फूलों की जोति जगत।' इसमें सीसफूल एक वचन को 'सीस-फूलन' बहुवचन लिखने से यह जान पड़ता है कि उस नायिका के सीस पर अनेक सीसफूल थे। कैसे बेढब दिखते होंगे, जरा सोचिए, नायिका भी कैसी नागरी होगी, इसका भी अनुमान कीजिए। खेद है, आचार्य केशवदास ने ऐसी भद्दी भूल की। 'नेकु हरे-हरे हँसि' पर ही मिश्रजी उछल पड़े हैं। लिखते हैं, शर्माजी ने इसका अर्थ जोर-जोर से 'हँसना' किया है। पर मिश्रजी व्यर्थ ही बिगड़ गए। शर्माजी ने हरे-हरे हँसि का अर्थ जोर से हँसना नहीं किया है। मिश्रजी स्वयं समझे नहीं और दूसरों को समझाने का हास्यस्पद प्रयास करने बैठ गए। इतना भी तो न समझ पाए कि यदि नायिका जोर-जोर से न हँस रही होती, तो फिर उससे यह कहने की आवश्यकता ही न होती कि तू 'धीरे-धीरे (हरे-हरे) हँसि।' आपने इतना भी न समझा कि 'हरे-हरे हसि' का प्रस्ताव ही उसके पहले उसका जोर से हँसना सूचित कर देता है। कदाचित आप यह नहीं जानते कि काव्य में केवल वाच्यार्थ ही नहीं होता, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी होता है। तर्क से थोड़ा भी काम लेते, तो आपको केशव के कवित्त की नायिका के जोर से हँसने का पता लग जाता। पर वितंडावाद में यह सब सूझता ही कहाँ है! आपने अपनी इसी नासमझी पर सीना फुलाते हुए एक ही साँस में कह डाला है—'बलिहारी इस...... न करते।' आदि-आदि।

केशव के इस वर्णन में बिहारीलालजी के दोहे की-सी काव्य-

कुशलता का अभाव है। केशवदास अंत में बुरी तरह फिसल पड़े हैं, लिख मारा—'चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।' कई स्थूल सौंदर्य-पूर्ण पदार्थों की चमक से नेत्रों का चकचौंधिया जाना तो बिलकुल ठीक और संगत बात है, पर चित्त का चकचौंधिया जाना किसी प्रकार ठीक नहीं माना जा सकता। चित्त का चंचल होना लिखते, तो ठीक था; चमत्कृत होना लिखना भी ठीक था, पर चकचौंधियाना आँखों का धर्म है, चित्त का नहीं। इसमें अक्षम्य भूल की गई है। फिर यदि हम किसी प्रकार कष्ट-कल्पना की हद करके 'चकचौंधे' का अर्थ चंचल होना भी मान लें, तो ध्वनि यह निकलती है कि ज्यों-ज्यों नायक नायिका की उपर्युक्त प्रभा-पूर्ण सुंदर वस्तुओं की ओर देखता था, त्यों-त्यों उसका चित्त अधिकाधिक चंचल होता जाता था। विशेषकर नायिका के जोर-जोर से हँसने में उसके दाँतों का चौका खुलने से उसकी दशन-प्रभा नायक के चित्त को और भी चंचल बनाती थी। इसी से कदाचित् नायक के कहने से सखी नायिका को आज्ञा देती है कि हे नायिका! तू जोर-जोर से हँसना बंद कर दे। धीरे-धीरे हँस, क्योंकि तेरे जोर-जोर से हँसने से 'चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।'

केशव के इस वर्णन में नेत्रों के चकचौंधियाने का भाव निकलना मानो रेत से तेल निकालना है। इतनी बहुत-सी प्रभा-पूर्ण वस्तुओं की दमक की सहायता लेकर भी नायिका की दशन-प्रभा नायक के नेत्रों को नहीं चकचौंधिया सकती, यह स्पष्ट है। बिहारीलालजी के दोहे की नायिका की दशन-प्रभा के सम्मुख केशव के कवित्त की नायिका की इधर-उधर से जुटाई हुई अनेक प्रभा-पूर्ण वस्तुओं की प्रभा की सहायता पानेवाली दशन-द्युति कितनी प्रभा-हीन है, इसे साहित्यिक सज्जन अपनी कल्पना से स्वयं देखें। फिर केशव के कवित्त में बिहारीलालजी के दोहे के समान उक्ति-वैचित्र्य

नायक की नायिका के मुख की सौंदर्य-सुधा-पान की उत्कट अभिलाषा एवं उसका दैन्य प्रदर्शन, नायक द्वारा नायिका की सुंदर दशनावली की प्रशंसा आदि के समान अनोखा वर्णन स्वप्न में भी नहीं। इस वर्णन में केशव बिहारीलालजी से बहुत पीछे रहे।

कदाचित् केशवदासजी के महाकवि और आचार्य होने के कारण आपने उन्हें बिहारीलालजी से श्रेष्ठ समझ लिया है। पर स्मरण रहे, भूल सबसे होती है। यदि केशवदास ने गलती की है, तो कोई अचरज की बात नहीं हुई। धाँधली मचाकर गलती को सही करना व्यर्थ है।

अब एक दूसरी तुलना की भी बानगी देखिए। शर्माजी ने केशव के केवल चार कवित्तों से बिहारीलालजी के चार दोहों की तुलना की है, और इस तुलना में बिहारीलालजी को केशवदास से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। जिन पदों से तुलना की है, उनपर विचार करने से तो, बिहारीलालजी ही श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

सुख दै, सखीन बीच पैकैं, सौंहैं खायकैं,
खवाय कछू, खाय बस कीनी बरबसु है;
कोमल मृणालिका-सी मल्लिका की मालिका-सी
बालिका जु डारी मींड़ मानस कै पसु है।
जाने नर्विभात भयो, 'केसव' सुनैं को बात,
देखो आनि गात जात भयो कैधौं असु है;
चित्र-सी जु राखी वह चित्रनी विचित्र गति,
देखो धौं नए रसिक यामें कौन रसु है।
(केशव)

केशवदासजी के इस छंद में सखी नायक को उलाहना देती है। प्रौढ़ नायक ने मुग्धा नायिका से संभोग किया है। मुग्धा नायिका

को पहले उसने (रुपए-पैसे से संतुष्ट करके या अन्य ऐसे ही किसी प्रकार से संतुष्ट करके) सुख दिया, अर्थात् किसी भाँति लालच आदि से प्रसन्न किया। इसपर वह नायिका लरजी तो, पर प्रौढ़ नायक से रति करने में कष्ट होगा, यह सोचकर डर गई, तब नायक ने (सखीन बीच पैकें) सखि को मध्यस्थ बनाकर शपथें कीं, जिससे उसकी दिल-जमई की। फिर उसे कुछ मादक द्रव्य (भंग आदि) खिलाकर उसे ज्ञान या विवेक से रहित कर दिया। नशे में चूर होकर जब वह आपा भूल गई, तब उसे (स्वाय) सुलाकर (बरबसु)-बलात वश में कर लिया। इस प्रकार नायक ने उस 'मृणालिका-सी' एवं 'मल्लिका की मालिका-सी' कोमल बालिका को 'मींड़ डारी'। संभोग की समाप्ति पर जब नायिका की सखी ने उस बालिका नायिका की बुरी दशा देखी, तब क्रोधित होकर नायक के पास उपस्थित हुई, और उससे बोली—"हे दुष्ट नायक ! तूने उस (अज्ञातयौवना मुग्धा) बालिका को, जो 'कोमल मृणालिका-सी' 'मल्लिका की मालिका-सी' है मींड़ डाली। तू मनुष्य है या पशु ?"

केशव के इस वर्णन में नायक और सखी दोनों उजड्ड, गँवारी और निर्लज्ज हैं। सखी का गाली-गलौज करना उसका गँवारी होना सूचित करता है, एवं नायक की उपर्युक्त चेष्टाएँ और उसका सखी से इस प्रकार गाली खाना इस बात का प्रमाण है कि वह अत्यंत कामी, प्रेम-हीन, कपटी एवं असभ्य है। उसकी प्रकृति भी अति नीच है। केशव ने ठीक ही तो कहा है—'यामें कौन रसु है।' सचमुच कुछ रस नहीं है।

अब बिहारीलालजी का वह दोहा देखिए, जिसकी तुलना केशव के इस कवित्त से की गई है—

यौं दलमलियत निरदई, दई! कुसुम-से गात ;
कर धर देखो, धरधरा अजौं न उर को जात।
(बिहारी-सतसई)

पहले तो बिहारीलालजी ने केशव के समान—'सुख दै....बर-बसु है' नहीं लिखा। इससे यह स्पष्ट है कि दोहे की नायिका ज्ञात-यौवना है, विश्रब्ध नवोढ़ा है। इसीसे उसके साथ संभोग करने में नायक को केशव के कवित्त में वर्णित नायक के समान मनुष्यत्व-हीन एवं कुटिल और घृणित उपायों का आश्रय नहीं लेना पड़ा है। नायक भी श्रीमान् एवं गुणज्ञ है। सखी के उलाहना देने के ढंग से यह स्पष्ट सूचित होता है कि वह संभ्रांत कुल का कोई प्रभावशाली व्यक्ति है। सखी भी चतुर है। उसकी व्यवहार-कुशलता और नागरिकता उसके कथन के ढंग से जान पड़ती है। दोहे में कितनी प्रेम-पूर्ण मधुर भर्त्सना है। 'कुसुम-से गात दलमलियत' में और 'मीड़ डारी'—मींड़कर डाल देने में बहुत अंतर है। दूसरे में वह बात—वह बाँकपन—कहाँ है, जो पहले में है। 'दई'! अकेले में ही सखी की सहृदयता, नायिका से सहानुभूति, नायक के कृत्य पर क्षोभ एवं आश्चर्य आदि अनेक भावों का गुंफन है। इस एक ही शब्द में कवित्व का समुद्र भरा है। मर्मज्ञ ही ऐसे स्थलों को समझने में समर्थ होते हैं। फिर जो शब्द-समृद्धि, जो भाषा-माधुर्य, जो प्रयोग-साम्य और शब्दालंकारों की जो सुकर सजावट दोहे में है, उसका शतांश भी तो कवित्त में नहीं है। इतना होते हुए भी बिहारीलालजी में एक बात अद्वितीय है। उनका वर्णन उद्वेग-जनक नहीं है। अग्नि-पुराण में भगवान वेद-व्यासजी ने 'उद्वेग-जनक' होना काव्य का भारी दोष माना है। केशव का कवित्त उद्वेग-जनक होने से दूषित है, पर बिहारीलालजी का उद्वेग-जनक न होने से दूषित नहीं है।

फिर बिहारीलालजी के अक्षर तो कामधेनु ही ठहरे। कई लोग कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोहा किसी एक स्त्री ने किसी दूसरी ऐसी स्त्री से कहा है, जिसने अपने उपद्रवी, कोमल बालक को उपद्रव

करने के कारण क्रोधावेश में झकझोर डाला है। बालक क्रोधावेश में झकझोरे जाने से काँप उठा है, उसका दिल दहल गया है, इसी से हृदय में धड़कन हो रही है। क्रुद्ध माता से बालक की रक्षा करनेवाली वह सहृदया नारी उलाहने के ढंग पर कहती है—

यों दलमलियत निरदई, दई कुसुम-से गात ;
कर धर देखो, धर धरा अजौं न उर को जात ।

(बिहारी-सतसई)

कुछ भी हो, है अपूर्व भर्त्सना। दोहा अत्यंत श्रेष्ठ है। अब यदि शर्माजी ने लिखा है कि बिहारीलालजी इस मैदान में केशवदास से बहुत आगे बढ़ गए हैं, तो क्या अनुचित किया है ?

इसी भाव पर सैयद गुलामनबी 'रसलीन' ने भी एक दोहा कहा है, उसे भी देख लीजिए—

यों मींजत कोऊ लला, अबलन अंग बनाय ;
मले पुहुप की बास-लौं साँस न जानी जाय ।

('रसलीन'—रसप्रबोध)

'रसलीन' ने बिहारीलालजी के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न किया है, पर उन बूँदों में रस कहाँ ? इनके लला ने मामला कुछ बिगाड़ दिया है। 'अबलन अंग' लिखकर इन्होंने भी बात बता दी। जिस बात को काव्य-जगत् के चतुर चितेरे बिहारीलालजी ने विदग्धता से ढककर रक्खा था, उसे इन्होंने प्रकट कह दिया। 'अबलन अंग' से यह भी सूचित होता है कि नायक ने ऐसी हरकतें एक बार नहीं, अनेक बार की हैं—अनेकों के साथ की हैं। खैर, इनके वर्णन में डर लगता है कि कहीं अनर्थ

न हो जाय, क्योंकि आप लिखते हैं—'साँस न जानी जाय' बड़ा अनर्थ हो गया। इसमें फिर रस कहाँ ? यह तो केशव के—'जात भयो कैधौं अस् है' से भी बहुत बढ़ गया।

परिशिष्ट

महाकवि बिहारी और देव

स्वर्गीय पं० बालदत्तजी मिश्र ने 'सुखसागर-तरंग' की भूमिका में, उनके सुपुत्र प्रसिद्ध आलोचक श्रीयुत मिश्रबंधुओं (पं० गणेश-बिहारी मिश्र, पं० श्यामबिहारी मिश्र, पं० शुकदेवबिहारी मिश्र) ने 'हिंदी-नवरत्न' और 'मिश्रबंधु-विनोद' में एवं पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में देव कवि पर अनुरक्त हो उन्हें महाकवि श्रीबिहारीलालजी से श्रेष्ठ ठहराने का हठ किया है। इनमें से पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने विशेष सतर्कता और रोचक लेखन-शैली का अवलंबन कर, पक्षपात-पूर्ण आलोचना द्वारा बिहारीलालजी के साथ घोर अन्याय कर उन्हें देव से बलात् हीन सिद्ध किया है। उस समय से कुछ लोगों का झुकाव इस ओर दिखाई देने लगा है। परंतु उनमें अधिक संख्या ऐसे सज्जनों की है, जो अध्ययनशीलता से विमुख रहकर, केवल एक-दो आलोचनाएँ पढ़कर, महाकवियों के विषय में निर्भ्रांत मत देने की अनधिकार चेष्टा में रत रहकर अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटते हुए देखे जाते हैं।

महाकवि बिहारीलालजी और देव, दोनों ही किसी परिपाटी-विशेष की निर्धारित शैली के अनुसार शृंगार-प्रधान काव्य निर्माण करनेवाले हैं। देव ने आजमशाह के यहाँ 'बिहारी-सतसई' का अध्ययन किया था, एवं उसके दोहों के भावों का अपहरण कर अपने अधिकांश छंद बनाए हैं। इसी कारण दोनो की रचनाओं में समान भावों तथा वर्णनोंवाली सूक्तियाँ मिलती हैं। दोनो ही मुक्तकों के रचयिता हैं। ध्यान रहे, मुक्तक की विशेषता थोड़े में एक सजीव भावात्मक शब्द-चित्र अंकित करने में है। हिंदी में

ऐसी रचना स्फुट दोहा, कवित्त, सवैया और गीत में प्रधानतया प्राप्त होती है। बिहारीलालजी और देव, दोनो ही मुक्तक लिखने वाले हैं, और वे भी प्रधानतया शृंगार-रस पूर्ण। ऐसी दशा में दोनो ही एक विषय की समतामयी उक्तियों की निष्पक्षपात-भाव से आलोचना करने में हमें संभवतः निर्भ्रांत निर्णय प्राप्त हो सकता है कि दोनो में कौन किससे कितना श्रेष्ठ है। ऐसे समालोचक को सर्वतोभावेन निष्पक्षपात रहना चाहिए। क्योंकि ऐसी स्थिति में पक्षपाती समालोचक अपनी लेखनी के बल से केवल कोमल-मति पाठकों को ही नहीं, वरन अपरिपक्क बुद्धि के पढ़े-लिखे लोगों एवं अध्ययनशीलता-रहित विचारवान् पाठकों तक को उलटे मार्ग में ले जाकर उनका महान् अहित करता है। यथार्थ में समालोचका को निष्पक्षपात न्यायाधीश के समान बड़े विचार से निर्णय देन चाहिए। फिर न्यायधीश के निर्णय से तो केवल अल्पसंख्यक व्यक्तियों को हानि पहुँचती है, पर समालोचक के निर्णय से साहित्य-जगत् में भ्रांत मत फैल जाता है, जिससे जनता और साहित्य, दोनों का महान् अपकार होता है। जो पैसे के लालच, अपने किसी स्वार्थ-विशेष की पूर्ति एवं विद्वता के अभिमान के वश हो दुराग्रह से पक्षपात करता है, वह साहित्य का, समाज का एवं अपना घोर अहित करता है।

आलोचना करने के पूर्व मैं यह मत प्रकट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि दोनो कवि समकक्ष नहीं हैं, एवं महाकवि बिहारीलालजी से देव की तुलना करना एक प्रकार से दुराग्रह है। यह तुलना न की जाती, तो ठीक था। इसके निम्न-लिखित कारण है—

(१) महाकवि बिहारीलालजी काव्य की मंदाकिनी प्रवाहित करने और देव साहित्य का आचार्यत्व दिखलाने के लिये लक्षणों केउदाहरण लिखने बैठे थे।

(२) महाकवि बिहारीलालजी ने एक-एक दोहा बड़े ही विचार-पूर्वक स्वाभाविकता लिये हुए, देश,काल और पात्र आदि के अनुसार भाव और भाषा का अद्भुत मेल मिलाकर लिखा है, जिससे उनके प्रत्येक दोहे में अपूर्व चमत्कार आ गया है, और देव ने ढेर-की ढेर रचना की है, जिनमें अधिकांश पद्य अत्यंत साधारण हैं।

(३) बिहारीलालजी की भाषा शब्दालंकारों से अलंकृत होते हुए भी देश,काल और पात्र की परिस्थिति के अनुकूल और स्वाभाविक प्रवाह-युक्त समुचित नियंत्रित है, और देव की भाषा अधिकांश में देश, काल तथा पात्र की परिस्थिति के प्रायः प्रतिकूल केवल यमक और अनुप्रास-युक्त है। साथ ही तोड़ी-मरोड़ी हुई है, और उसमें भाषा के स्वभाविक प्रवाह के दर्शन दुर्लभ हैं।

(४) बिहारीलाल के दोहे प्रायः उद्वेग-वर्धक नहीं हैं, पर देव के अधिकांश पद्य नग्न-काम-भोग-वर्णनमय, उद्वेग-वर्धक हैं, जिन्हें सभ्य-समाज में सुरुचि-पूर्ण लोग सुनना या पढ़ना तक पसंद नहीं कर सकते।

(५) बिहारीलालजी का प्रत्येक दोहा साहित्य-संसार का समुज्जवल रत्न है,पर देव के कवित्तों के विषय में यह बात क्वचित् ही है।

देव की तुलना पद्माकर और दास आदि से हो सकती है, क्योंकि ये कवि लोग देव के समान आचार्यत्व प्रकटित कर,लक्षण एवं उदाहरण लिखकर रीति-ग्रंथों के निर्माता हैं। इनसे देव की तुलना भली भाँति हो सकती है, पर काव्य-कानन-केसरी बिहारीलालजी से देव की तुलना हो ही नहीं सकती। महाकवि बिहारीलालजी बहुत ही उच्च कोटि के कलाविद् कवि हैं, जिनकी रचना में शृंगारिक मुक्तक लिखने की कला का सर्वश्रेष्ठ विकसित निदर्शन है। देव उसके समक्ष जन-साधारण है। दोनों कवियों की उक्तियों के तुलनात्मक मिलान से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। यहाँ उदाहरण देखिए—

परकीयांतर्गत कुलटा नयिका का वर्णन करते हुए दोनो लिखते हैं—

बिहारीलालजी लिखते हैं—

खेलन सिखए अलि भलैं चतुर अहेरी मार ;
काननचारी नैन-मृग नागर नरन सिकार ।
(बिहारी-सतसई)

देव लिखते हैं—

छोरि दुकूल, सकोरि कै अंग, मरोरि कै बारन हारन छूटे
मींड़ि नितंबहिं, पीड़ि पयोधर, दाबत दंत रदच्छद फूटे
ज्यों कररी कर केलि करै, निकरै न कहूँ कुलसों किन टूटे ;
मानहिं कौन सुखै जुवती जग, जो न जुवा दिन-जामिनि जूटे ।
(भावविलास पृष्ठ ८८, छं० सं० ६६)

साहित्य-शास्त्र मे वह नायिका कुलटा मानी गई है, जो एक पुरुष की विवाहिता होती हुई भी अनेक पर-पुरुषों से रति करती है इसमें काम की प्रबलता होती है। काम की उद्दाम वृत्ति रहने से यह पुंश्चली होती है। पर ध्यान रहे, साहित्य-शास्त्र काम-शास्त्र नहीं है, एवं शृंगार का स्थायी भाव रति है, काम नहीं। कवि को केवल रति-भाव का द्योतक शब्द-चित्र अंकित करना चाहिए। संभोग-काल का ग्राम्य शब्द-चित्र अंकित करना कवि का काम नहीं है। उपर्युक्त तुलना में यह स्पष्ट है कि शब्द-चित्रों द्वारा कुलटा नायिका का स्वरूप दर्शित करना ही दोनो कवियों का उद्देश्य है। अब देखना यह है कि दोनो कवियों में किसका वर्णन सभ्यजनोचित एवं समुचित-नियंत्रित है, और किसका वर्णन ग्रामीणता (गँवारपन) सूचक एवं उद्वेगवर्धक तथा निर्लज्जता पूर्ण है।

जो काव्य-मर्मज्ञ रसिक हैं, वे तो कवि के इस कल्पना-चित्र से ही कवि की परख कर लेते हैं, वे देखते हैं, किसका चित्र कैसा है। महाकवि बिहारीलालजी और देव कवि के ये दोनो कुलटाओं के चित्र यदि किसी चित्रकार से खिंचवाए जायँ, तब विदित होगा कि महाकवि बिहारीलालजी ने अपने दोहे में जो शब्द-चित्र चित्रित किया है, उसे यदि घर में रक्खें, तो वह गृह की शोभा बढ़ावेगा, क्योंकि वह चित्र सर्वथा विशुद्ध, परिमार्जित और सुरुचि-पूर्ण कला के प्राकृतिक ढंग का बड़ा ही मनोरम चित्र होगा। देव कवि ने सवैया में जो शब्द-चित्र चित्रित किया है, वह सर्वथा ग्रामीणता-सूचक, निर्लज्जतामय, पाशविक प्रवृत्तियों की ओर ले जानेवाला है। इन सवैया से बनाए गए भयंकर निर्लज्जतामय चित्र को कौन सभ्य पुरुष अपने घर में रखने का दुस्साहस करेगा? सुरुचि-संपन्न व्यक्ति उसे देखना भी पसंद न करेगा। यदि देखेगा भी, तो घृणा से मुँह फेर लेगा। यदि यह कहो कि यह प्राकृतिक है, तो इसका उत्तर यह है कि अनेक प्राकृतिक बातें ऐसी हैं, जो कुत्सित हैं। उन्हें सौंदर्य-कल्पना में तन्मय हो कर सुंदर, भावमय चित्रों में सुरुचि-संपन्न ढंग से अंकित कर जाने में ही कवित्व है। साहित्य-शास्त्र में कोमल-से-कोमल भावों का चित्रण, बड़े ही सुरुचि-पूर्ण ढंग से, सुंदरता के आवरण में सजाकर, करने की आज्ञा है। देव ने शृंगार-रस के स्थायी भाव 'रति' का स्थान 'काम' को दे डाला है। तात्पर्य यह कि देव का वर्णन शृंगार-रस की सीमा को उल्लंघन कर गया, अतएव अनौचित्य-पूर्ण है। शृंगार के विषय में तो भाषा-कवियों का यह कथन है—

कवि-अच्छर अरु तिय-सुकुच, अध उघरे सुख देत;
अधिक ढँके हू सुखद नहिं, उघरे महा अहेत।

बिहारीलालजी के दोहे में कोई कुलटा नायिका, जो नागरी है, नागर पुरुषों से आँखें लड़ाया करती है। उसे अनेकों से रति।

गई है। उस नायिका की कोई अंतरंगिणी सखी उसकी चेष्टा देखती है। वह नायिका के मनोभावों को ध्यान से देखती है, एवं मनोभावों के वेग के उतार-चढ़ाव के कारण उसकी चेष्टाओं में जो अंतर पड़ता है, उसे भी वह देखती है; तब अनुकुल अवसर पाकर वह नायिका से उसके मनोभावों को ताड़ लेने की बात कितने अनूठे ढंग से कहती है। वह कहती है--"हे सखी ! देख तो, कामदेव-रूपी चतुर अहेरी (प्रवीण शिकारी) ने काननचारी (कानों तक विस्तीर्ण, वन-चारी) नेत्र-रूपी मृगों को नगर-निवासी (चतुर) पुरुषों का शिकार खेलना भली भाँति सिखलाया है।"

नागरिक लोगों को मृगों का शिकार करना तो चतुर अहेरी सामान्यः सिखलाते ही हैं, पर काम-अहेरी वे किस अद्भुत रीति से काननचारी नयन-मगों को नगर-निवासी चतुर जनों का शिकार खेलना सिखलाया है। सिखलावेगा क्यों नहीं ? जब काम ही स्वयं शिक्षक बना है, तब सब ठीक ही है। काम कैसा प्रवीण शिकारी है, इसे विचारशील जानते ही हैं। इसने बड़े-बड़े व्रतधारियों, बड़े-बड़े तपस्वियों, बड़े-बड़े नीतिज्ञों एवं बड़े-बड़े मुनियों तक का शिकार किया है। इसमें साहित्य-संसार के प्रवीण पर्यवेक्षक शब्द-चित्रकार महाकवि बिहारीलालजी ने काम को किस प्रकार प्रधानता देकर उसे अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से शृगार के स्थायी भाव रति के अतर्गत ला दिया है, यह दर्शनीन है। बात वही है, पर ढग महाकवियों-जैसा है। दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने चमत्कार-पूर्ण विस्मय स्थायी भाववाले अद्भुत रस को शृंगार का सहायक किस विदग्धता से बनाया है, यह देखिए। फिर यह आश्चर्य दोहे में ध्वनि से झलकाया गया है। संचारी भावों, विभावों एवं अनुभावों से परिपुष्ट स्थायी भाववाले किसी स्वतंत्र रस को और फिर प्रधान अद्भुत रस को इस प्रकार अन्यान्य संचारी भावों, विभावों एव अनुभावों से परिपुष्ट अन्य रस

गार का सहचारी बनाने और उसे भी ध्वनि से झलकाने में महाकवि बिहारीलालजी ने अपूर्व प्रतिभा दर्शित की है।

काननचारी नयन-मृगों का नागर-नरों का शिकार खेलना अद्भुत रस का संस्थापक है, पर दोहे में प्रधानता शृंगार-रस की है, अतएव उस अंगी शृंगार-रस का अद्भुत रस अंग है। भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से भी दोहा सवैया से बहुत उत्कृष्ट है। दोहे की भाषा काननचारी के श्लेष व 'नागर नरन' के अनुप्रास से युक्त, प्रसाद-गुण युक्त, व्याकरण-विशुद्ध, स्वाभाविक प्रवाहमय है। श्लेषादि या छंद के कारण भाषा अनियंत्रित व व्याकरण-विरुद्ध न होते हुए देश, काल एवं पात्र के सर्वथा अनुकूल, परम परिमार्जित एवं नागरत्व-सूचक है।

कहने का तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी की अपेक्षा देव बहुत ही नीचि श्रेणी के शब्द-चित्रकार हैं। बिहारीलालजी के समान भावमय शब्द-चित्र खींचना महाकवियों का काम है, पर देव-सरीखे स्थूल शब्द-चित्र को कोई जन-साधरण भी अंकित कर सकेगा, जिसे तुक जोड़ने का विचार-मात्र होगा।

ऐसे ही अनेक शब्द-चित्रों की तुलना करने से यह मत अधिक स्पष्ट हो जाता है कि देव कवि बहुत ही नीची श्रेणी के शब्द-चित्रकार हैं, और उनकी तुलना कविता-कामिनी-कांत बिहारीलालजी से हो ही नहीं सकती। अपने कथन के प्रमाण-स्वरूप मैं यहाँ कुछ और ऐसे ही उदाहरण देता हूँ। देखिए—

फाग-वर्णन

रस भिजए दोऊ दुहुँन, तउ टिक रहे, टरैं न :
छवि सौं छिरकत प्रेम-रँग भर पिचकारी-नैन।

(बिहारी)

यह रति-भाव का कैसा सुंदर चित्र है, जिसमें अनुराग के भाग का सुंदर वर्णन है।

बोलि बोलि भीतर तें खोलि-खोलि घूँघटनि,
    मन के मलोले लाल मेटत फिरत हैं;
केशर, गुलाल मुख मोड़ें बिंनु छोड़ें नहीं,
    अड़ि उर आनँद समेटत फिरत हैं।
नीबि गुन तोरत हैं, कंचुकी बिछोरत हैं,
    चंदन लैं कुचन लपेटत फिरत हैं,
फाग मिस 'देव' अनुराग भरि, राग भरि,
    भौन-भौन भामिनीन भेंटत फिरत हैं।
(देव)

कितना गंदा, अपवित्र, कुरुचि-उत्पादक और भ्रष्ट भावों से भरा वर्णन है। ग्राम की नारियों एवं होली के खिलाड़ी का अत्यंत घृणित चरित्र इस कवित्त में अंकित हुआ है।

कलकिंचित् हाव

सुनि पग-धुनि चितई इतै, न्हाति दिए ही पीठि;
चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी लजीली डीठि।
(बिहारी)

लंक गहि लीनी परयंक में मयंक-मुखी;
    सुंदरि सशंक अंक अंकन धसति-सी;
ओठन अमेठति कटीली भौंहैं एंठति,
    मरोरति सुनासा तन तोरति त्रसति-सी।
सोहैं सतराति इतराति बतराति औ'

झुलाति अकुलाति उर अंतर बसित-सी ;
आँसू दृग दोलति उसासें हिय खोलती-सी,
बोलन रिसाति-सी कपोलन हँसति-सी ।
(देव)

कहना न होगा कि जहाँ बिहारीलालजी का दोहा संपूर्णतया रति स्थायी भाव का एवं संयोग-काल के परम चित्ताकर्षक किलकिंचित् हाव का भावनामय काव्य-पूर्ण चित्र है, वहाँ देव का कवित्त निर्लज्जतामय उद्वेग-जनक दोष से दूषित अत्यंत स्थूल संभोग का ग्राम्य चित्र है, जो पाशविक प्रवृत्तियों का लज्जाजनक नंगा स्वरूप बतलाकर रुचि में विपर्यय उत्पन्न करता है। अत्यंत स्थूल शरीर संभोग में किलकिंचित् हाव का जो शृंगारिक वर्णन देव ने किया है, वह स्थूल काम-भोग की लज्जा-जनक लीला में डूब सा गया है।

देव ने किलकिंचित् हाव के और भी शब्द-चित्र गढ़े हैं, जिनमें इसके भी अधिक निर्लज्जता है। जैसे—

पीछे ते छैल छुई छतियाँ
इक बार तिया रिस ही रखौं है;
अंगन रोम तरंग उठी,
उमगे कुच ऊँचे उतै फरको है।

❀ ❀ ❀

इसी प्रकार 'सुख-सागर-तरंग' के छंद ७४० और 'भावविलास' के छंद ३० पृष्ठ ४९ में अत्यंत घृणित उदाहरण हैं।

कुट्टमित हाव

नाहिं-नाहिं नाहीं करै, नारि निहोरे लेय ;
छुवत ओंठ बिच आँगुरिन बिरी बदन पियदेय।
(बिहारी)

नाह सों नाहीं करै मुख सों
 सुख सों रति-केलि करै रतियाँ में ;
देत रदच्छद सी-सी करै,
 कर ना पकरै पै बकै बतियाँ में।
'देव' किते रति कूजत के तन
 कंप सजे न भजे घतियाँ में ;
जानु भुजानहु को भहरावत
 आवति छल लगी छतियाँ में।
 (देव)

देव ने इससे भी अधिक निर्लज्जता कुट्टमित के अन्य दो उदाहरणों में रक्खी है। देखिए—

दाई भए दिन ही सुखदाई
 सु आँख मिहींचनी खेल समाखे ;
चोरिकैं जोर कै बैठो बधू गए
 ओट ह्वै जोट बजावत काँखे।
मोचत नाहिं सकोचत अंग त्यों
 सोक सकोच सबै निज ताखे ;
जानु भुजान में जानु भुजा दिए
 खींचत घींचत, मींचत आँखे ;

एवं—

लै भुजबल्लरी पल्लव हाथन
 वल्लव मल्लव मोद बिहारै ;

प्यारी के अंग न रंग चढ़े
त्यों अनंग कला करै री नहिं हारै।
ओंठन दंत, उरोज नखच्छत हू
सहि, जीतै तिया पति हारै।
ऊरु मरोरनि ज्यों मरुरै
उर हो अरुरै अरु रैनि निहारै।

देव ने इस हाव के और भी, इससे भी घृणित, उदाहरण लिखे हैं—

कुट्टमित हाव के वर्णन में भी इतनी शुद्धता और पवित्रता रखना शृंगारी कवियों के मुकुटमणि बिहारीलालजी का ही काम है। देव ने कामुक, निर्लज्जतामय, घृणित वर्णनों के सिवा और रक्खा ही क्या है? इस देव कवि की यही बान सर्वत्र है।

बस, अब इतना ही बहुत है। इस अप्रिय, गंदी बात को अधिक लिखना अनुचित समझकर मैं इसे और नहीं बढ़ाता। पर ऐसे सैकड़ों छंदों की तुलना करने से जान पड़ता है कि देव निम्नश्रेणी के कवि हैं, और कलाविद् बिहारीलालजी से तो उनकी समता स्वप्न में भी नहीं की जा सकती।

श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे को लिखते हुए कटाक्ष किया है—

लरिका लैबे के मिसै लंगर मो ढिग आय
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाय।
(बिहारी)

इस पर आपलोगों ने अपनी सुजनता से विवश होकर बिहारी-लालजी को 'गुंडा' की उपाधि दी है। इसमें बिहारीलालजी ने यह

दिखलाया है कि मनुष्य के हृदय में वात्सल्य के भीतर भी काम-भाव किस प्रकार छिपा रहता है। यह लोक में होता है और इसमें अधिक निर्लज्जता नहीं है। पर इन 'आम' और इमली को इमली' कहनेवालों की समझ में देव के इसकी अपेक्षा शतगुणित निर्लज्जतामय, उद्वेग-जनक, घृणित वर्णनों में कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ा। इसी को पक्षपात में अंधा होना कहते हैं। यहाँ विवश होकर मैं देव की 'प्रेमचंद्रिका' के एक छंद को देता हूँ। देखिए—

गोहरे माँझ गई मिलि साँझ
कछु छिति में कछु छैल के कौंछे;
पौढ़ि गई कसि अंग में अंग
उकासि कैं कंचुकि तैं कुच ओछे!
'देव' दोऊ करिके सुख-संग
उलाहित ही उठि अंग अँगोछे;
साँस लई, मुख चूमि बिदा भई,
त्यों तिय के अँसुआ पिय पोंछे।

'देव' ने यह छंद परकीया के उदाहरण में स्वयं ही रक्खा है, इससे पिय से 'पति' का अर्थ न लेकर 'प्यारा' अर्थ लेना चाहिए।

हुआ यह कि 'साँझ' ठीक सायंकाल में—जब लोग ईश्वर का स्मरण करते हैं, प्रत्येक कार्य बंद करके इष्टदेव का ध्यान धरना कर्तव्य समझते हैं—किसी मनचले नायक को, यहाँ-वहाँ नहीं, 'गोहरे माँझ' गोशाले में, जहाँ गोमूत्र और गोबर रहने से आर्द्रता होना ध्रुव है, एक 'तिय' मिल गई। फिर क्या था। वह 'तिय' संभोग कराने के लिये गोशाला में लेट गई। उसका कुछ शरीर 'छिति में, और कुछ (कनर से नीचे का भाग) छैले (गुंडे) की गोद में था। वह 'तिय' लेटी भी, तो 'कसि अंग में अंग' और उसने स्वयं ही

फौरन कंचुकी (चोली) से 'ओछे कुच' मर्दन कराने के लिये निकाल लिए। देव फर्माते हैं कि उन दोनो ने सुख-पूर्वक बड़े आनंद से (संग) संभोग करके (उलाहित हो) शीघ्र ही उठकर (गोमूत्र और गोबर लगे हुए) 'अंग अँगोछे'। तब कहीं उन दोनो ने साँस ली। उस स्त्री ने (छैल का) मुख चूमा, और 'बिदा भई'। उस गुंडे ने भी संभोग के समय आए हुए उस स्त्री के आँसू पोंछे।

यह 'प्रेमचंद्रिका' का छंद है, जिसके विषय में श्रीयुत मिश्रबंधु कहते हैं कि 'देव के प्रेम-संबंधी अपूर्व अनुभवों का निचोड़' इस ग्रंथ में है।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में जो समतामयी तुलना लिखी है, वह पक्षपात-पूर्ण है। देव के उत्कृष्टातिम उत्कृष्टतम चार-छ चोटी के छंदों से बिहारीलालजी की सतसई के अन्य दोहों की अपेक्षा घटिया चार दोहों की तुलना आपने की है, जिसमें पक्ष पात-पूर्ण अलोचना करके श्रीयुत मिश्रबंधुओं के मत को सिद्ध करने के हेतु बिहारीलालजी के दोहों को देव के पद्यों से बलात हीन ठहराने का प्रयास किया है। इसमें लेखक ने अपनी नासमझी को बिहारीलालजी के सिर मढ़ने का उपहासास्पद प्रयास किया है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र की समालोचना यह दिखलाती है कि समझदार समालोचक अंध-भक्त व दल-विशेष की ओर झुकाव के कारण पक्षपाती बनकर किस प्रकार भ्रांत मत फैलाता है। इस समालोचना में लेखक ने ऐसी-भद्दी भूलें की हैं, जिनसे यह जान पड़ता है कि लेखक महाशय बिहारीलालजी के दोहों को पूर्णतया समझने में सर्वथा असमर्थ रहे।

इस पर अधिक न लिखकर मैं यहाँ पं० कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना अपनी लिखी प्रत्यालोचना-सहित दिखलाना ही अलम् समझता हूँ।

समझता हूँ। मर्मज्ञ पाठक देखें कि मिश्रजी ने कैसी आलोचना की है, एवं अब देव के उन पाँच-छ चोटी के छंदों की भी बिहारी-लालजी के उन सबसे घटिया दोहों के समक्ष कुछ गणना न हो सके, तो यह मानना पड़ेगा कि देव कवि बिहारीलालजी की श्रेणी के कवियों में नहीं रक्खे जा सकते।

पूर्वानुराग

निम्न-लिखित समता-मूलक प्रबंधों में पूर्वानुरागिणी नायिका की अवस्था का वर्णन है—

नई लगन, कुलकी सकुच, बिकल भई अकुलाइ ;
दुहूँ ओर ऐंची फिरै, फिरकी-लौं दिन जाइ।
(बिहारी)

मूरति जो मनमोहन की
मनमोहिनी कै थिर ह्वै थिरकी-सी ;
'देव' गुपाल को नाम सुनैं
सियराति सुधा छतियाँ छिरकी-सी।
नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं
नैनन लाज घटा घिरकी-सी ;
पूरन प्रीति हिए हिरकी
खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी।
(देव)

"नायिका की दशा फिरकी के समान हो रही है। जिस प्रकार फिरकी निरंतर घूमती है, ठीक उसी प्रकार नायिका भी अस्थिर है। बिहारीलाल की नायिका को एक ओर 'नई लगन' घसीटती है

तो दूसरी ओर 'कुल की सकुच'। फिरकी के समान उसके दिन बीत रहे हैं। देवजी की नायिका के हिए में भी 'पूरन प्रीति, 'हिरकी' है, और नेत्रों में 'लाज-घटा' 'घिरकी' है। इसीलिये वह भी 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी'। देवजी ने 'लगन' के स्थान पर 'प्रीति' और 'सकुच' के स्थान पर 'लज्जा' रक्खी है। हमारी राय में बिहारीलाल की 'नई लगन' देवजी की 'पूरन प्रीति' से प्रकृष्ट है। 'नई लगन' में स्वाभावतः जो अपनी ओर खींचने के भाव का स्पष्टीकरण है, वह 'पूरन प्रीति' में वैसा स्पष्ट नहीं है, पर देवजी की 'लाज-घटा' कुल की सकुच से कहीं समीचीन है। इस लाज-घटा में कुल-संकोच, गुरुजन -संकोच आदि सभी घिरे हुए हैं। यह बड़ा ही व्यापक शब्द है। फिर लाज में प्रियतम के प्रति प्रेम-पूर्ण,स्वभावतः उत्पन्न अनिर्वचनीय संकोच (झिझक) का जो भाव है, वह बाहरी दबाव के कारण; अतः कुल की सकुच में नहीं है। वाता-यन-द्वार पर विशेष वायु-संचार की संभावना से फिरकी की स्थिति जैसी स्वाभाविक है, उसे पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। अनु-प्रास, चमत्कार एवं अन्यान्य काव्य-गुणों में सवैया दोहे से उत्कृष्ट है। मनमोहन की मूर्ति मनमोहिनी की गई है, यह परिकरांकुर का रूप है। 'स्थिर ह्वै थिरकी-सी' में असंगति अलंकार है। नाम-मात्र सुनने से उरोजों का ठंडा हो जाना चंचलतिशयोक्ति अलंकार का रूप है। उपमा की बहार तो दोनो छंदों में समान ही है। 'नई लगन' के वश बिहारीलाल की नायिका इँच जाती है, और उसमें कुल-संकोच-मात्र की लज्जा है। पर देवजी की नायिका में स्वा-भाविक लज्जा है। इसी लज्जा-वश वह झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती। देवजी की नायिका विशेष लज्जावती है। उसमें मुग्धत्व भी विशेष है।"

(पं० कृष्णबिहारी मिश्र—'देव और बिहारी', पृष्ठ २५९-२६१)

उपर्युक्त आलोचना में मिश्रजी इतना तो मान गए कि 'नई

लगन' 'पूरन प्रीति' से प्रकृष्ट है। 'नई लगन' में जो स्वभावतः अपनी ओर खिंचने के भाव का स्पष्टीकरण है, वह पूरन प्रीति में वैसा स्पष्ट नहीं है *। पर यह विचार न किया कि क्या 'पूरन प्रीति' 'हिए' में रखनेवाली नायिका के विषय में हम 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी' कह सकते हैं? इतना तो सभी जानते हैं कि चंचलता और विकलता 'नई लगन' में होती है, क्योंकि उस समय प्रेम-मात्र की सुंदरता प्रेमी-हृदय में मोहमय प्रेम की उत्पत्ति करती है। 'नई लगन' में बड़ा ह उत्तेजित, मोहमय प्रेम होता है, एवं उसमें चंचलता और विकलता का अपूर्व संघटन होता है। उस समय प्रेमी-हृदय संकल्प-विकल्प के हिंडोले में किस प्रकार झूलता है। 'नई लगन' मे बिहारीलालजी ने अनिर्वचनीय सुंदर भाव भरा है। अब दूसरी ओर 'पूरन प्रीति' में देखिए। मर्मज्ञ जानते हैं कि प्रेम की पूर्णता और प्रेमी प्रियतम के एकीकरण में अंतर नहीं होता। वहाँ प्रेयसी प्रियतम और प्रियतम प्रेयसी का रूप हो जाता है। दो हृदयों का एकीकरण होकर द्विधा भाव मिट जाता है। क्योंकि—

प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समायँ।

(महात्मा कबीर)

जहाँ ऐसी स्थिति हो जाती है, वहाँ नायिका 'खिरकी-खिरकीन फिरकी-सी नहीं फिर सकती। क्योंकि पूर्ण प्रेम की प्रवाहिनी में प्रवाह है, पर उच्छृंखलता नहीं, बहाव है, पर टूटता नहीं। वह सदैव शांत, एकरस, आनंदमय और सुखद है। यही विचारकर तत्त्वज्ञानी कबीर कहते हैं—

*मिश्रजी का यह वाक्य लचर है। इसकी भाषा अनियंत्रित है। इसका निम्न लिखित रूप होता, तो अच्छा था—'नई लगन में स्वभावतः अपनी ओर खींचने के भाव का जैसा स्पष्टीकरण है, वैसा 'पूरन प्रीति' में नहीं है।'— लेखक

छिनहि चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय ;
अघट प्रेम-पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय।

तात्पर्य यह कि पूर्ण प्रेम में संयोग और वियोग का भान नहीं होता। उसमें तो–'राधा हरि,हरि राधिका' की-सी स्थिति हो जाती है। पूर्ण प्रेम के विषय में किसी उर्दू-कवि ने लिखा है—

दिल के आईने में है तसवीरे-यार ;
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।

जहाँ यह हाल है, वहाँ 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी' लिखना कितना हास्योत्पादक कार्य है, इसे सहृदय मर्मज्ञ देखें। सच पूछो. तो देव के उपर्युक्त शब्द बिहारीलालजी के शब्दों के सम्मुख किसी बालक की रचना के समान जान पड़ते हैं।

मिश्रजी लिखते हैं— "लाज-घटा कुल की सकुच से कहीं समीचीन है। इस लाज-घटा में कुल-संकोच, गुरुजन-संकोच आदि सभी घिरे हुए हैं।" भला, क्या जिस व्यक्ति को अपने कुल का संकोच है, उसे गुरुजन-संकोच न होगा। 'कुल की सकुच' का अर्थ ,कुल का संकोच' करके टीका में मिश्रजी उसका अर्थ कुलवालों का संकोच करते हैं, यह कैसे? किस कोष में 'कुल की' का अर्थ 'कुल-वालों की' होता है? संकोच का अर्थ लाज भी होता है। 'कुल की सकुच' का अर्थ कुलवालों का संकोच न होकर 'कुल की लाज है। फिर जो कुलीन है—जिसे अपने कुल की लाज का ध्यान है—जिसे अपने कुल के गौरव का स्मरण है— वह क्या गुरुजन-संकोच न करेगी? देव की नायिका को विशेष लज्जावती लिखना मिश्रजी की भयंकर भूल है। देव की नायिका को कुल की मान-मर्यादा का विचार नहीं है। उसमें विवेक-बुद्धि का प्रायः अभाव है। 'नैनन लाज-घटा घिरकी-सी, से हमें केवल यह विदित होता है कि वह बिलकुल निर्लज्जा नहीं है। उसकी आँखों में थोड़ी लाज अवशिष्ट है, जो कभी-कभी घटा के समान उसकी आँखों में घिर-सी जाती है। वह भी अवश्य घिर जाती है, यह निश्चित नहीं है। यही दिखलाने के लिये देव ने 'सी' का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि मिश्रजी ने देव की नायिका को बलात लज्जावती ठहराने का

विफल प्रयास किया है। यथार्थ में देव की नायिका घोर निर्लज्जा है। उसे कदा-कदा किसी अवसर-विशेष पर, किसी भारी कारण के उपस्थित होने पर भी लज्जा होती है, यह भी निश्चित नहीं है। बिहारीलालजी की नायिका कुलवती है, अतएव विचारशीला और स्वाभाविक लज्जा-शीला है।

नायिका के फिरकी-सी फिरने का कारण देव 'नैनन लाज-घटा घिरकी-सी' और 'पूरन प्रीति हिए हिरकी' बतलाते हैं। और बिहारीलालजी 'नई लगन' एवं 'कुल की सकुच' में पड़कर 'विकल भई अकुलाय' वर्णन करते हैं। इस 'नई लगन' में पड़ी हुई 'कुल की सकुच' से 'विकल भई अकुलाय' की परिस्थितिवाली नायिका का दर्शन हम कैसे स्पष्ट रूप से करते हैं। 'नई लगन' में पड़ी हुई 'कुल की सकुच' से विकल होनेवाली नायिका का फिरकी-सा घूमना किस सहृदय के हृदय पर करुणा का भाव अंकित न कर देगा? किस सहृदय, साहित्य-प्रेमी और काव्य-मर्मज्ञ के हृदय में एक बार करुण रस न उमड़ उठेगा? क्या देव की नायिका के विषय में, जो कुलाटा के समान 'खिरकी-खिरकीन फिरकी-सी' फिरती है, पाठकों की वैसी वृत्ति होना कभी संभव है। इतने बड़े चार लकीरों के सवैया छंद में लाज और प्रेम में पड़कर व्यथित होनेवाली नायिका को देव 'विकल' विशेषण तक न दे सके। इससे वर्णन में हीनता आ गई, और यह विदित हो गया कि देव के हृदय में कविजन-सुलभ सहृदयता का अभाव था। सहृदय महाकवि बिहारीलालजी ने केवल चौबीस मात्राओं के छोटे-से दोहा-छंद में नायिका की 'विकल भई अकुलाय' अवस्था का स्पष्ट वर्णन किया है। दोहे के 'दुहुँ ओर ऐंची फिरै' चरण में जैसा स्वाभाविक वर्णन है, इसे मर्मज्ञ परखें। बिना दोनो ओर के खिंचाव के फिरकी का घूमना नहीं हो सकता। इस बात का बिहारीलालजी ने विदग्धता से वर्णन किया है। प्रकृति का इसमें सूक्ष्म अवलोकन है। अपने भावों को भाषा में स्पष्ट रीति

से व्यक्त करने की इतनी सामर्थ्य बिहारीलालजी-जैसे महाकवियों में होती है। फिरकी के घूमने का वर्णन देव भाषा में स्पष्ट रीति से व्यक्त न कर सके, यह उनकी भारी हीनता है।

अंत में मिश्रजी दुहराते हैं कि देव की नायिका विशेष लज्जावती है। "इसी लज्जा-वश वह झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती।" देव की नायिका कैसी लज्जावती है, यह मैं दिखला चुका हूँ। यहाँ मिश्रजी की वाक्य-रचना का कौशल देखिए। जब नायिका 'झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती'—तब वह दरवाजे से झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध क्यों नहीं कर लेती? उसे झरोखे से ही झाँकना चाहिए, ऐसी कोई आज्ञा तो है ही नहीं। वह झरोखे से न झाँककर मकान के बाहर आकर अपना मनोरथ सिद्ध कर सकती है।

देव के सवैया से अधिक अलंकार बिहारीलालजी के दोहे में दिखलाए जा सकते हैं, परंतु विस्तार-भय से दो-एक प्रधान अलंकारों का दिखलाना ही ठीक जान पड़ता है। दोहे में 'नई लगन' और 'कुल की सकुच' दोनो मे नायिका के हृदय में बिकलता की उत्पत्ति करनेवाला एक ही गुण का कथन किया गया है, अतएव तुल्ययोगिता अलंकार है। पूर्णोपमा अलंकार की छटा देव की अपेक्षा बिहारीलालजी के छंद में अधिक मनोहर है। भाषा-माधुर्य की दृष्टि से भी मिश्रजी ने सवैया को दोहे से श्रेष्ठ कह डाला है। परंतु 'घिरकी-सी' और 'हिरकी-सी'-सदृश पदों का प्रयोग करनेवाले, भाषा को तुकबंदी या अनुप्रास के लिये तोड़-मरोड़कर दुरूह बनानेवाले एवं भाषा की स्वाभाविकता को नष्ट कर अविन्यस्त कर डालनेवाले देव कवि की भाषा की समता महाकवि बिहारीलालजी की प्रसाद-गुण-युक्त, सुरुचित नियंत्रित भाषा से करना एक हँसी की बात है। देव के छंद की भाषा व्याकरण से भी शुद्ध नहीं है। 'खिरकी- खिरकी' लिखने से ही

खिरकी शब्द का बहुवचन बन जाता है। जैसे— 'सर-सर हंस न होत, नारि पतिव्रता न घर-घर।' 'खिरकी खिरकीन' लिखने से भाषा व्याकरण-विरुद्ध हो गई। नकार जोड़ने से संज्ञा शब्दों का बहुवचन बन जाता है। जैसे— नर से नरन, लोग से लोगन, हाथी से हाथीन आदि। एक साहित्य-सेवी ने मुझ से कहा था कि 'खिरकीन' बहुवचनांत अवश्य है, पर खिरकी-खिरकीन' से 'खिरकी खिरकीन में' अर्थ में निकलता है। देव ने नकार का प्रयोग यहाँ 'में' के अर्थ में किया है। पर यह उनका भ्रम था, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार कर लिया। उदाहरण देखिए-'कानन में बसी बाँसुरी की धुनि' प्रानन में बस्यो बाँसुरीवारो।' इस उदाहरण में नकार केवल बहुवचन बनाने के लिये व्यवहृत हुआ है। 'में, के अर्थ में 'न' का प्रयोग नहीं होता। इसी से उपर्युक्त उदाहरण में 'कान' शब्द का बहुवचन बनाने के लिये नकार जोड़कर 'कानन' बनाया गया, परंतु उसमें 'में' विभक्ति का प्रयोग अधिकरण के लिये करना पड़ा।

यह सवैया पिंगल शास्त्र की दृष्टि से भी दूषित है। देव सात भगण और दो गुरु से बननेवाले इस सवैया छंद की तृतीय पंक्ति में लिखते हैं—'नीके झरोखा है झाँकि सकै नहिं।' इसमें चार

ऽऽ।ऽऽऽ ऽ।।ऽ।।

भगण चाहिए थे' पर इसमें 'नीके झरोखा है झाँकि सकै नहिं।' इस चारो 'गणों' में भगण न रह सका। देव लिखने तो बैठे थे

ऽऽ। ऽऽऽ

भगण, पर लिख गए तगण और मगण। यह ठीक है कि पिंगल-शास्त्र में लघु को गुरु एवं गुरु को लघु पढ़ने की व्यवस्था दी है, पर ऐसी व्यवस्था कहीं भी नहीं दी गई कि 'भगण' के स्थान में 'मगण' लिखो। एक गुरु और दो लघुओं के स्थान में तीनों गुरुओं को रखना अत्यंत अनौचित्य-पूर्ण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पं० कृष्णविहारी मिश्र ने दोहे को बलात् हीन ठहराने का विफल प्रयास करने में व्यर्थ समय नष्ट किया है, एवं वितंडावाद से देव को बलात् श्रेष्ठ ठहराने की चेष्टा की है। सच तो यह है कि दोहे के सम्मुख सवैया अत्यंत हीन कोटि का है,

एवं प्रत्येक दृष्टि से दोहा अत्यंत श्रेष्ठ है, पर मिश्रजी समझे नहीं। इसी प्रकार की तुलना 'देव और बिहारी'-पुस्तक में है।

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि बिहारीलालजी केशवदास तथा देवदत्त (देव) से बहुत ऊँची श्रेणी के माननीय कलाकार हैं। इस ग्रंथ में प्रसंग-वश श्रीसूरदासजी की तीन भक्ति-प्रधान सूक्तियों से बिहारीलालजी की तादृशी तीन सूक्तियों की तुलना बहुदर्शिता-नामक अध्याय में हो चुकी है। वहाँ भी जान पड़ेगा कि काव्य-कला-कुशलता में कौन किससे कैसा कुछ है? हिंदी-कवि-कुल-कलाधर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी हिंदी-भाषा के सर्व-श्रेष्ठ कवि के नाते विश्व में प्रसिद्ध हैं। पर सच तो यही है कि गोस्वामीजी का काव्य ज्ञान-धारा-प्रधान है, और उसमें काव्यानंद के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति का लाभ होने से वह विशेष रोचक, माननीय एवं वांछनीय है। हाँ, साहित्य की भाव-धारा और ज्ञान-धारा दोनो का जो पार्थक्य करके देखना चाहेंगे एवं काव्य-धारा में जो भाव-धारा का ही प्राधान्य देखना चाहेंगे तथा ज्ञानोपदेशादि के संदेश को भुलाकर जो काव्य को केवल काव्योत्कर्ष की दृष्टि से परखेंगे, उन्हें तो श्रीसूरदासजी और श्रीतुलसीदासजी से भी बिहारीलालजी काव्य-मार्ग में--काव्य-कला-कुशलता में—आगे बढ़े हुए दिखाई देंगे। जब हम गोस्वामी तुलसीदास और बिहारीलालजी की समान भाववाली उत्कृष्ट सूक्तियों की तुलना करके काव्य-कला-कौशल की दृष्टि से दोनो को परखते हैं, तब हमें बिहारीलालजी ही श्रेष्ठ जान पड़ते हैं, जैसे—

बारी मथे बरु होय घृत, सिकता तैं बरु तेल :
बिनु हरि-भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।

(तुलसी)

दृढ़ धारी माला पकरु और न कछु उपाव ;
तरि संसार-पयोधि को हरि-नामै करि नाव ।

(बिहारी-सतसई)

इनमें देखिए कि कवि-जनोचित, भावमय वर्णन किसका है ? जहाँ गोस्वामीजी एक वैज्ञानिक के समान् सामान्य सिद्धांत को कहते हैं, वहाँ बिहारीलालजी उसी बात के वर्णन में भाव-मूर्ति खड़ी कर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं । कल्पना का प्राबल्य, भावावेश एवं आलंकारिक छटा के साथ वर्ण्य विषय का अनूठा वर्णन बिहारी-लालजी के दोहे में श्रेष्ठतर है । तुलसी एक कठोर दार्शनिक सिद्धांत कहकर रह जाते हैं, और बिहारीलालजी काव्य की धारा बहाते हैं ।

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा ;
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं, जानु प्रीति-रस इतनेहि माहीं ।

(तुलसी)

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात ;
कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात ।

(बिहारी-सतसई)

इन दोनो सूक्तियों में दांपत्य प्रेम की दृढ़ता और प्रेम-पात्र का अटल विश्वास अपेक्षाकृत बिहारीलालजी के दोहे में ही अधिक है ।

इस प्रकार अनेकानेक सूक्तियों से तुलना करके मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि बिहारीलालजी हिंदी-संसार के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं । केवल काव्य-कला के उत्कर्ष की दृष्टि से बिहारीलाल का प्रतिद्वंद्वी हिंदी में नहीं है । यह विषय विवाद-ग्रस्त है, अतः इस पर एक स्वतंत्र ग्रंथ में विस्तार-पूर्वक सप्रमाण लिखकर शीघ्र उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा ।